

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, एकता तथा मानव-धर्म-प्रेरक हिन्दी पत्रिका

<p>प्रवर्तक सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब श्री कबीर मन्दिर, बड़हरा पोस्ट—महोबाजार जिला—गोंडा, उ०प्र०</p> <p>आदि संपादक सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब</p> <p>संपादक धर्मेन्द्र दास</p> <p>आदि व्यवस्थापक प्रेम प्रकाश</p> <p>मुद्रक एवं प्रकाशक गुरुभूषण दास</p> <p>पारख प्रकाश इंटरनेट पर www.kabirparakh.com</p> <p>वार्षिक शुल्क—40.00 एक प्रति—12.50 आजीवन सदस्यता शुल्क 800.00</p>	<h3>विषय-सूची</h3> <table border="0"> <tr> <td>कविता</td> <td>लेखक</td> <td>पृष्ठ</td> </tr> <tr> <td>सो गुरु-पीर हमारा</td> <td>सद्गुरु कबीर</td> <td>1</td> </tr> <tr> <td>बस यही इक आस है</td> <td>देवेन्द्र कुमार</td> <td>11</td> </tr> <tr> <td>मौन</td> <td>श्रीमती मीना जैन</td> <td>14</td> </tr> <tr> <td>सद्गुरु वंदना</td> <td>ज्ञानदास</td> <td>18</td> </tr> <tr> <td>गजल</td> <td>धर्मेन्द्र मौर्य 'अकिंचन'</td> <td>24</td> </tr> <tr> <td>आदमी</td> <td>बरसाईत दास महंत, 'व्याख्याता'</td> <td>27</td> </tr> <tr> <td>कबीर कौन?</td> <td>श्री अशोक त्रिवेदी</td> <td>34</td> </tr> <tr> <td>भवसागर से तरता जा</td> <td>हीरेन्द्र दास</td> <td>48</td> </tr> <tr> <td>स्तंभ</td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td>पारख प्रकाश / 2</td> <td>व्यवहार वीथी / 15</td> <td>शंका समाधान / 35</td> </tr> <tr> <td>परमार्थ पथ / 44</td> <td>बीजक चिंतन / 46</td> <td></td> </tr> <tr> <td>लेख</td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td>कबीर के मस्तक पर मोरपंख</td> <td>श्री अरुण कमल</td> <td>6</td> </tr> <tr> <td>सद्गुरु कबीर : बहुआयामी व्यक्तित्व</td> <td>श्री रणजीत कबीरपंथी</td> <td>12</td> </tr> <tr> <td>अपने को परखें</td> <td>देवेन्द्र कुमार</td> <td>18</td> </tr> <tr> <td>हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं</td> <td>श्री धर्मदास</td> <td>19</td> </tr> <tr> <td>लाओत्जे क्या कहते हैं?</td> <td></td> <td>25</td> </tr> <tr> <td>देना सीखें</td> <td>गुरुभूषण दास</td> <td>29</td> </tr> <tr> <td>साक्षी भाव</td> <td>विवेक दास</td> <td>37</td> </tr> <tr> <td>संत कबीर</td> <td>भावसिंह हिरवानी</td> <td>49</td> </tr> <tr> <td>संत कबीर का चिन्तन संसार</td> <td>श्री कन्हैया सिंह विशेन</td> <td>55</td> </tr> <tr> <td>मानुष जन्म चूकेहु अपराधी</td> <td></td> <td>58</td> </tr> </table>	कविता	लेखक	पृष्ठ	सो गुरु-पीर हमारा	सद्गुरु कबीर	1	बस यही इक आस है	देवेन्द्र कुमार	11	मौन	श्रीमती मीना जैन	14	सद्गुरु वंदना	ज्ञानदास	18	गजल	धर्मेन्द्र मौर्य 'अकिंचन'	24	आदमी	बरसाईत दास महंत, 'व्याख्याता'	27	कबीर कौन?	श्री अशोक त्रिवेदी	34	भवसागर से तरता जा	हीरेन्द्र दास	48	स्तंभ			पारख प्रकाश / 2	व्यवहार वीथी / 15	शंका समाधान / 35	परमार्थ पथ / 44	बीजक चिंतन / 46		लेख			कबीर के मस्तक पर मोरपंख	श्री अरुण कमल	6	सद्गुरु कबीर : बहुआयामी व्यक्तित्व	श्री रणजीत कबीरपंथी	12	अपने को परखें	देवेन्द्र कुमार	18	हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं	श्री धर्मदास	19	लाओत्जे क्या कहते हैं?		25	देना सीखें	गुरुभूषण दास	29	साक्षी भाव	विवेक दास	37	संत कबीर	भावसिंह हिरवानी	49	संत कबीर का चिन्तन संसार	श्री कन्हैया सिंह विशेन	55	मानुष जन्म चूकेहु अपराधी		58
कविता	लेखक	पृष्ठ																																																																				
सो गुरु-पीर हमारा	सद्गुरु कबीर	1																																																																				
बस यही इक आस है	देवेन्द्र कुमार	11																																																																				
मौन	श्रीमती मीना जैन	14																																																																				
सद्गुरु वंदना	ज्ञानदास	18																																																																				
गजल	धर्मेन्द्र मौर्य 'अकिंचन'	24																																																																				
आदमी	बरसाईत दास महंत, 'व्याख्याता'	27																																																																				
कबीर कौन?	श्री अशोक त्रिवेदी	34																																																																				
भवसागर से तरता जा	हीरेन्द्र दास	48																																																																				
स्तंभ																																																																						
पारख प्रकाश / 2	व्यवहार वीथी / 15	शंका समाधान / 35																																																																				
परमार्थ पथ / 44	बीजक चिंतन / 46																																																																					
लेख																																																																						
कबीर के मस्तक पर मोरपंख	श्री अरुण कमल	6																																																																				
सद्गुरु कबीर : बहुआयामी व्यक्तित्व	श्री रणजीत कबीरपंथी	12																																																																				
अपने को परखें	देवेन्द्र कुमार	18																																																																				
हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं	श्री धर्मदास	19																																																																				
लाओत्जे क्या कहते हैं?		25																																																																				
देना सीखें	गुरुभूषण दास	29																																																																				
साक्षी भाव	विवेक दास	37																																																																				
संत कबीर	भावसिंह हिरवानी	49																																																																				
संत कबीर का चिन्तन संसार	श्री कन्हैया सिंह विशेन	55																																																																				
मानुष जन्म चूकेहु अपराधी		58																																																																				

विशेष ध्यान शिविर

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद के तत्त्वावधान में निम्न स्थलों पर निम्नांकित तिथियों पर विशेष ध्यान शिविर का आयोजन किया जा रहा है—

28 जुलाई से 3 अगस्त, 2013 : श्री कबीर संस्थान, नवापारा (राजिम), रायपुर, छत्तीसगढ़
फोन : 09926137179

17 अगस्त से 23 सितम्बर, 2014 : कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर, इलाहाबाद
फोन : 09451369965, 0532-2090366, 0532-2090157

उक्त ध्यान शिविरों में सीमित साधकों के लिए ही व्यवस्था रहेगी। अतः कोई भी साधक किसी भी शिविर में बिना पूर्व अनुमति के न आवें। जो साधक जहां के शिविर में भाग लेना चाहें, वहां के पते पर ही संपर्क करें, अन्य स्थल पर नहीं। जो साधक ध्यान शिविर के दौरान पूर्ण मौन पालन कर सकें तथा पूरी अवधि तक रुक सकें वे ही भाग लें। ध्यान शिविर में भाग लेने वालों का शहर, बाजार जाना वर्जित रहेगा।

निर्बंध

ENGLISH TRANSLATION
Kabir Bijak (Commentary)
Eternal Life
Art of Human Behaviour
Who am I?
What is Life?
Kabir Amritvani
The Bijak of Kabir (In Verses)
Kabir Bijak
(Elucidation Sakhi Chapter)
Saint Kabir and his Teachings
Life and Philosophy of Kabir



सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,
एक जिमी पर रहिये
—सन्त कबीर



हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु सोई लखाई।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, राम न कहूँ खुदाई बीजक

वर्ष]

इलाहाबाद, आषाढ़, वि० सं० , जुलाई , सत्कबीराब्द

[अंक

सो गुरु-पीर हमारा

अल्लाह राम जियो तेरी नाँई, जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई
क्या मुण्डी भूईं शिर नाये, क्या जल देह नहाये
खून करे मिस्कीन कहाये, अबगुण रहे छिपाये
क्या वजू जप मंजन कीये, क्या महजिद शिर नाये
हृदया कपट निमाज गुजारे, क्या हज मक्के जाये
हिन्दू बरत एकादशी चौबिस, तीस रोजा मुसलमाना
ग्यारह मास कहो किन टारे, एक महीना आना
जो खुदाय महजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा
तीरथ मूरत राम निवासी, दुइमा किनहुँ न हेरा
पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लह मुकामा
दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा
वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे
सब घट एक-एक कै लेखे, भय दूजा के मारे
जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा
कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु-पीर हमारा

पारख प्रकाश

साँचा शब्द कबीर का

सद्गुरु कबीर की यह साखी—“साधु साधु सबहीं बड़े, अपनी अपनी ठौर। शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर ” पूर्णतः उन पर ही सटीक बैठती है। दुनिया में एक से बढ़कर एक संत-महात्मा, ऋषि-मुनि, तपस्वी-विद्वान हुए हैं, सबका अपना महत्त्व है, दुनिया के कल्याण में सबका योगदान है, परंतु कबीर साहेब जैसा शब्दों का विवेकी-पारखी बिरले हैं। कबीर साहेब ने यह परवाह कभी नहीं किया कि कौन-सी बात किस ग्रंथ-किताब में लिखी है, कौन उसे कह रहा है और कितने लोग उसे मान रहे हैं। उन्होंने सब पर परख-विवेक की कसौटी लगायी। खरी जान पड़ी ले लिया, खोटी जान पड़ी छोड़ दिया और केवल छोड़ ही नहीं दिया सबके बीच कह दिया कि यह बात गलत है। उन्हें इस बात की रंच मात्र चिंता नहीं थी कि मेरी बातों से कौन खुश होता है और कौन नाखुश। डर तो उन्हें छू भी नहीं सका था। उनकी कथनी और करनी को देखकर ऐसा लगता है मानो उनके पास जाने में डर को भी डर लगता था। वे पूर्ण निर्भय पुरुष थे।

कबीर साहेब की इस निर्भयता का कारण है उनकी अटूट सत्यनिष्ठा। सत्य ही उनका साध्य था और साधन भी। वे सत्य के उपासक थे। वे कहते हैं—“साँच ही कहत और साँच ही गहतु हैं।” दुनिया की यह नग्न हकीकत है कि यदि आप अपने को किसी ईश्वर का अवतार, पुत्र, पैगंबर, चमत्कारी, सिद्ध घोषित कर चाहे जितनी झूठी बातें कहते रहें आपके पीछे हजारों-लाखों की भीड़ चलने लगेगी, किन्तु आप अपने को केवल मनुष्य कहकर चाहे कितना ही सही बात क्यों न कहें, कोई आपका अनुगामी-अनुयायी नहीं होगा, बल्कि लोग आपको हरसंभव झूठा साबित करने की कोशिश करेंगे। सत्य के राही का हमसफर कोई बनना नहीं चाहता। उसे तो अकेला ही चलना पड़ता है। कबीर साहेब ने कभी

अनुगामी-अनुयायी का इंतजार नहीं किया। वे सत्य के कंटीले पथ पर अकेले चल पड़े। उन्होंने कभी पीछे मुड़कर देखा ही नहीं कि कोई मेरे पीछे आ रहा है या नहीं। अनुगामियों की राह देखने वाला कभी सत्य के रास्ते पर चल नहीं सकता। हां, यदि कोई सारे भय और प्रलोभन से ऊपर उठकर सत्य के पथ पर एकरस चलता रहे तो धीरे-धीरे उसे अनुगामी-साथी मिलते चले जायेंगे।

यह कहा जाता है कि “साँच को आँच कहाँ।” परंतु प्रारंभ में तो साँच को, अपने को आँच में तपाकर खरा साबित करना पड़ता है, अन्यथा उसे कोई साँच मानेगा भी कैसे। प्रारंभ में साँच को अवहेलना, उपेक्षा, तिरस्कार, विरोध बहुत कुछ सहना पड़ता है, तब कहीं जाकर उसकी स्वीकृति होती है। कबीर साहेब के जीवन में यही सब कुछ हुआ था। उन्हें अपने और पराये सब के विरोध का सामना करना पड़ा था। लोगों को यह सहन कैसे हो सकता था कि एक गरीब जुलाहा के यहां पला-बढ़ा युवक सदियों से चली आ रही परंपरा को चुनौती दे और बड़े-बड़े कहलाने वाले समाज द्वारा पूज्य लोगों की आंखों में अंगुली डालकर उन्हें अपने गिरेबां में झांकने को विवश करे। भला कभी ऐसा हुआ था कि झोपड़ी महल को चुनौती दे और अपने को उसके समकक्ष बताकर उसके सामने सीना तानकर, मस्तक ऊंचा कर खड़ा होने का साहस करे। कबीर यही कर रहे थे। फिर भी कोई उनका बाल बांका न कर सका था। इसके पीछे सिर्फ एक ही कारण था। कबीर की सत्यनिष्ठा। कबीर के पास न धन-बल था न जन-बल, न शासन-बल था, न विद्या-बल, न शास्त्र-बल था न शस्त्र-बल और न परंपरा-बल, किंतु उनके पास केवल सत्य-बल था। इसी सत्य-बल के आधार पर कबीर ने वह कर दिखाया जो आज तक कोई नहीं कर सका था।

धनबल, जनबल, शासनबल, अधिकारबल, शास्त्रबल, शस्त्रबल के आधार पर लोगों के सिर को झुकाया जा सकता है मन को नहीं। शरीर को जीता जा सकता है दिल को नहीं, मन को झुकाने के लिए। दिल को जीतने के लिए तो चाहिए सत्यबल, प्रेमबल। कबीर

साहेब इसी सत्यबल और प्रेमबल के बली थे। सत्यबल, प्रेमबल सर्वोपरि बल है। इस बल से बली वही हो सकता है जिसने अपने आपको मानसिक विकारों-कमजोरियों से पूर्ण मुक्त कर लिया हो। किसी भी प्रकार के मानसिक विकार-कमजोरी से ग्रस्त व्यक्ति सत्य को न तो समझ सकता है, न ग्रहण कर सकता है और न सत-पथ पर चल सकता है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा—

जो तू साँचा बाणिया, साँची हाट लगाव।

अंदर झारू देखके, कूड़ा दूरि बहाव

यदि तुम सचमुच सत्य के व्यापारी हो तो सत्य ज्ञान, सत्य वस्तु का बाजार लगा। लेकिन इसके लिए आवश्यक है अपने अंतःकरण में विवेक-विचार का झाड़ू लगाकर मन के विकार, दोष, दुर्गुण रूपी कूड़े-कचड़े को दूर फेंक दो।

सत्यज्ञान, सत्यबोध, सत्याचरण और मानसिक विकार, दोष, दुर्गुण, लोभ-लालच साथ-साथ कैसे चल सकते हैं। पूजा-पाठ, नामजप, मंत्रपाठ, हवन-तर्पण, कर्मकांड कर लेना सरल है। इतना ही नहीं दिगंबरी, जलशयनी, मौनी, खड़ेश्वरी हो जाना, लंबे-लंबे उपवास कर कायाकष्ट रूपी तपस्या कर लेना भी सरल है, कठिन है सारे दोष-दुर्गुण, भय-प्रलोभन से ऊपर उठकर सत-पथ पर चलना। क्योंकि यह 'अनी ऊपर का खेल है' तलवार की धार पर चलना है और यही असली तप है। कबीर साहेब इसीलिए कहते हैं—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप

आप किसी पेड़ के नीचे, खुले मैदान या चौराहे पर नंगे होकर बैठ जायें और वहां चार-छह दिन समाधि लगाने या एक सप्ताह-दस दिन निराहार रहने की घोषणा कर दें, देखेंगे बहुत जल्दी सब तरफ आपकी प्रसिद्धि फैल जायेगी, प्रतिष्ठा होने लगेगी, पूजा-चढ़ावा आने लगेगा और आपके इर्द-गिर्द लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जायेगी। लोग आपको हाथोहाथ ऊपर उठा लेंगे। लेकिन यदि आप प्रचलित मान्यताओं, परंपराओं, सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों से हटकर चलने लगे,

उनकी समीक्षा करने लगे, तो आपको कोई साथी नहीं मिलेगा। लोग आपके पास आने से, आपकी बात सुनने से हिचकिचायेंगे।

आज के इस इक्कीसवीं सदी के विज्ञान युग में भी अनेक लोग कबीर की बातों से क्यों चौंकते और घबड़ाते हैं। सिर्फ इसीलिए कि कबीर की वाणियों से उन्हें अपने पैर नीचे की जमीन डोलती-खिसकती जान पड़ती है। सुविधाभोगी वर्ग द्वारा जिस भ्रम-कल्पना, अंधविश्वास, चमत्कार, वर्णव्यवस्था और जातिगत ऊंच-नीच की भावना की दीवार पर खड़े होकर आम लोगों का सब प्रकार से शोषण किया जा रहा था, कबीर उस दीवार को ही ढहा रहे थे। इसीलिए सुविधाभोगी वर्ग द्वारा उस समय भी कबीर का पुरजोर विरोध किया गया था और आज भी किया जा रहा है। परंतु कबीर की वाणी को, कबीर की आवाज को न तब दबाया जा सका था और न आज या आगे दबाया जा सकता है। क्योंकि कबीर की वाणी, सत्य की वाणी और कबीर की आवाज, सत्य की आवाज है। दिन जितने बीतेंगे कबीर उतने चमकते जायेंगे, साथ ही कबीर वाणी और प्रखर होती जायेगी। उसकी चमक कभी फीकी नहीं होगी। कबीर साहेब की यह साखी स्वयं उनके जीवन में ही चरितार्थ होती है—

साँचे श्राप न लागै, साँचे काल न खाय।

साँचहि साँचा जो चले, ताको काह नशाय

सब समय समाज का सामान्य वर्ग कभी सत्य से भयभीत नहीं रहा है, भयभीत तो रहे हैं राजनेता और धर्मनेता, जो असत्य के बल पर सामान्य जनता पर ईश्वर, स्वर्ग-नरक के नाम पर अपना दबदबा कायम किये हुए थे और निर्यत्न सब प्रकार की सुविधा भोग रहे थे। सुकरात से भय किनको था और किन लोगों ने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उन्हें जहर पिलाकर प्राणदंड दिया। ईसा से भय किनको था और किन लोगों ने उन्हें क्रॉस पर लटकवाया। सामान्य जनता ने या राजनेता-धर्मनेता ने। इसी प्रकार कबीर से भय किनको था और है। किन लोगों ने उन पर जनता को बरगलाने का आरोप लगाया था, उन्हीं लोगों ने जो आज तक धर्म

और ईश्वर का नाम लेकर सामान्य जनता को बरगलाया था। जो झूठे स्वर्ग और नरक का लोभ तथा भय दिखाकर जनता को गुमराह कर रहे थे और जनता की गाढ़ी कमाई को छीनकर अपने स्वार्थ की रोटी सेंक रहे थे। परंतु कबीर सत्य की राह पर चल रहे थे, इसलिए कोई उनका बाल बांका नहीं कर सका। सच है—साँचहि साँचा जो चले, ताको काह नशाय।

यह पहले लिखा जा चुका है कि कबीर साहेब को किसी प्रकार का भय छू नहीं सका था। वे पूर्ण निर्भय पुरुष थे। जो अपने हाथों अपने घर को फूंक चुका हो और जो सब तरफ से पूर्ण निष्पक्ष होकर बिना भेदभाव के सबकी खैर, सबकी भलाई की कामना कर रहा हो उसे किसका और किस बात का भय होगा।

भय तो उसे होगा जो रात-दिन बटोरने में, जोड़ने में लगा हो, किंतु जो बांटने में लगा हो, अपना सब कुछ दूसरों के लिए निछावर करने में लगा हो, उसे किसका भय। जिसे पाने में, जोड़ने में सुख लगता हो, उसे छूटने का भय होगा, किन्तु जो छोड़ने में सुख मानता हो उसे किसका भय। कबीर की तो घोषणा है—

जो तू चाहै मूझको, छाड़ सकल की आस।

मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास

ऐसी घोषणा तो वही कर सकता है जो सब तरफ से पूर्णतः निष्काम और अनासक्त हो। बिना पूर्ण निष्काम और अनासक्त हुए कोई निश्चित होकर सतपथ पर चल नहीं सकता। जितनी कामना और आसक्ति होगी उतना ही झूठ, असत्य प्रिय लगेगा और सत्य अप्रिय। परंतु झूठ कितना प्रिय क्यों न लगे एक दिन उसे छूटना है ही और झूठ से कब किसका भला हुआ है। सारी पीड़ा, अशांति और दुख का कारण तो झूठ ही है, परंतु भ्रम के कारण ऐसा लगता है कि झूठ ही सुख-शांति का कारण है। इसीलिए झूठ से सावधान करते हुए कबीर साहेब कहते हैं—

झूठा कबहूँ न करिहैं काज, हीं बरजों तोहि सुनु निलाज।

आदमी जन्म से छोटा-बड़ा, छूत-अछूत होता है, भगवान ने ही आदमी को ऊंच-नीच बनाकर पैदा किया है, वर्णव्यवस्था भगवान का बनाया विधान है, आकाश

में स्वर्ग-नरक है, अमुक आदमी ईश्वर, ईश्वर के अवतार पुत्र-पैगंबर हैं, अमुक पुस्तक ईश्वरीय वाणी या ईश्वर की बनायी है, हमारे गुरु या हमारे महापुरुष ही स्वर्ग और मोक्ष तक पहुंचाने वाले हैं—ये सारी बातें शत-प्रतिशत झूठ हैं। परंतु लोग ऐसे निर्लज्ज हो गये हैं कि बड़ी निर्लज्जता के साथ इन्हीं का प्रचार कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं।

कबीर साहेब खुलकर इस झूठ का पर्दाफाश कर रहे थे। वे कह रहे थे कि कोई आदमी जन्म से ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा नहीं होता, किंतु अपने अच्छे-बुरे कर्म, सदाचरण-दुराचरण के कारण बड़ा-छोटा, ऊंच-नीच होता है। किसी भगवान ने आदमी को ऊंच-नीच बनाकर पैदा नहीं किया है। वर्णव्यवस्था ईश्वरीय विधान नहीं किंतु मानवीय विधान है। न कहीं कोई ईश्वर है और न कोई आदमी ईश्वर का अवतार, पुत्र या पैगंबर है, कोई पुस्तक ईश्वरीय वाणी या ईश्वर की बनायी नहीं है, किन्तु दुनिया की सारी पुस्तकें आदमी की बनायी हुई हैं, आकाश में न कहीं स्वर्ग है और न नरक, किंतु मन की निर्मलता एवं प्रेम स्वर्ग है और मन की मलिनता तथा घृणा-द्वेष नरक है, मोक्ष कोई देता नहीं है किन्तु मन का अनासक्त-निष्काम हो जाना ही मोक्ष है। और यह स्वयं की साधना का फल है। स्वाभाविक है कबीर के इस सत्य कथन से झूठ के प्रेमी एवं प्रचारकों को तकलीफ होगी ही।

जो लोग यह कहते हैं कि वर्णव्यवस्था भगवान का बनाया विधान है और भगवान आदमी को जन्म से ही ऊंच-नीच बनाकर पैदा करता है तथा पुरोहितों-मुल्ला-मौलवियों के माध्यम से ही ईश्वर-खुदा तक पहुंचा जा सकता है वे भी यह जानते हैं कि यह सर्वथा झूठ है, परंतु इस झूठ से ही उनका स्वार्थ पूरा होता है। इसीलिए वे इसका प्रचार करते हैं और इसे शास्त्रसम्मत करार देते हैं, लेकिन अंत में तो झूठ की कलाई खुलना ही है। कबीर साहेब निर्भय होकर इस झूठ की कलाई खोल रहे थे और इस बात पर जोर दे रहे थे कि आदमी के साथ आदमियत का व्यवहार किया जाये और कह रहे थे कि मनुष्य किसी ईश्वर-खुदा के भरोसे न रहकर अपने

बाहुबल, अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखे। किसी क्षेत्र में उन्नति का, सफलता का उपाय स्वयं का पुरुषार्थ है न कि किसी दैव-गोसैया की कृपा। कबीर साहेब का यह कथन कितना प्राणवान है—

करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।

जाके आँगन नदिया बहे, सो कस मरे पियास

दुनिया में ज्यादातर तो यही होता है कि लोग जिस बात को मानते आ रहे हैं, चाहे वह बात कितनी ही गलत एवं भ्रमपूर्ण क्यों न हो, अगर आप वही बात कहते हैं या उसका समर्थन करते हैं, तो लोग आपकी बातों को बड़े प्रेम से सुनेंगे, परंतु यदि आप लोगों की मान्यता के विपरीत बात कहते हैं तो फिर आपकी बात कितना तथ्यपूर्ण, विवेकसम्मत क्यों न हो लोग आपकी बातों को सुनना नहीं चाहेंगे। इसीलिए लोग सत्य बातों का विरोध करते हैं, लेकिन विवेकी सत्यज्ञानी पुरुषों ने कभी इसकी परवाह नहीं की। वे लोगों के विरोध को सहन करते हुए सत्य-तथ्य का प्रचार करते रहे। सत्य को जीते हुए और सत्य का ही प्रचार करते हुए भी उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि मेरी बातों को जो नहीं मानेगा वह धर्मद्रोही, गुरुद्रोही है और उसे नरक में जाना पड़ेगा। परंतु उन्होंने कहा कि मेरी बातों को आंख मूंदकर मत मानो, अपितु विचारकर देखो कि ये सत्य हैं या नहीं। यदि सत्य लगे तो मानो, अन्यथा छोड़ दो। कबीर साहेब कहते हैं—

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचार।

चित्तहु दै समझे नहीं, मोहिं कहत भैल युग चार

कबीर साहेब कहते हैं कि मेरे शब्द सत्य निर्णय के शब्द हैं। तुम स्वयं हृदय में विचारकर देखो कि ये सत्य निर्णय के शब्द हैं या नहीं। लोगों की कमजोरी-गलती यह होती है कि वे किसी बात-कथन को चित्त लगाकर, निष्पक्ष होकर समझने का प्रयास नहीं करते, किंतु परंपरा, शास्त्र या महापुरुष-गुरु का पुछलगू बनकर समझना चाहते हैं, इसलिए सत्य-तथ्य से दूर रह जाते हैं।

हर मनुष्य को चाहिए कि वह यदि पूर्ण मानसिक प्रसन्नता, सुख-संतोष, आत्मसंतुष्टिपूर्वक जीवन जीना

चाहता है तो सारे भ्रम-कल्पना से ऊपर उठकर सत्य-तथ्य की खोज करे और सब जगह से सार-सत्य को ग्रहण करे। इसमें किसी प्रकार का पक्षपात न करे। झूठ के मोह में पड़कर तो अपने मूलधन-आत्मशांति विवेक-विचार की हानि हो जाती है, इसलिए अच्छी तरह जान-समझकर सत्य का ही सौदा करना चाहिए क्योंकि यदि अपने दिल में सत्य के प्रति प्रेम है या अपना दिल सच्चा है तो दुनिया में सत्य से ही सब प्रकार से भलाई एवं कल्याण है। मनुष्य चाहे कहीं भी चला जाये, कुछ भी बन जाये, कुछ भी कर ले और कुछ भी पा जाये सत्य के ज्ञान और सत्यतापूर्ण आचरण के बिना उसे सच्चा सुख नहीं मिल सकता। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

सब काहू का लीजिये, साँचा शब्द निहार।

पच्छपात न कीजिये, कहहिं कबीर विचार

साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि।

साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि

सब ते साँचा भला, जो साँचा दिल होय।

साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोय

वैज्ञानिक चिंतनपूर्ण सोच रखने वालों को कबीर-वाणी इसीलिए आकर्षित करती है कि वह सत्य संबलित है। उसमें अवैज्ञानिक चिंतन, अंधविश्वास एवं चमत्कार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। कबीर मुंहदेखी बात नहीं करते, किंतु जैसा देखते हैं, जो उचित-तर्कपूर्ण, न्यायसंगत एवं स्व-पर के लिए हितकर है वही कहते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा कथन सत्यतापूर्ण तो हो ही, हितकर भी होना चाहिए। तभी वह अधिकाधिक लोगों को ग्राह्य हो सकेगा। कबीर वाणी के प्रति लोगों के आकर्षण का यही कारण है कि कबीर साहेब ने जो कुछ कहा सत्य कहा और सबके लिए हितकर कहा। वैष्णव भक्तप्रवर श्री नाभादास जी महाराज इसी की पुष्टि करते हुए कबीर साहेब की प्रशस्ति में कहते हैं—पच्छपात नहिं बचन सबन के हित की भाखी।

—धर्मेन्द्र दास

कबीर के मस्तक पर मोरपंख

लेखक—श्री अरुण कमल

इस शताब्दी की हिन्दी की सर्वाधिक प्रसिद्ध और चर्चित कहानी प्रेमचन्द कृत 'कफन' का अंत कबीर की एक पंक्ति से होता है। पंक्ति है—'ठगिनी क्यों नैना झमकावै! ठगिनी!' घर में औरत की लाश पड़ी है। घीसू और माधव कफन के लिए मिले चंदे का पैसा शराब और खाने पर खर्च कर चुके हैं और नशे में धुत् नाचते हुए गाते हैं—'ठगिनी क्यों नैना झमकावै!' जीवन की एक अत्यंत विडम्बनापूर्ण स्थिति में प्रेमचन्द ने कबीर को याद किया। भारतीय जीवन की त्रासदी का साक्ष्य शायद कबीर के बिना संभव ही नहीं था। कबीर की यह पंक्ति 'कफन' कहानी को एक नया संदर्भ देती है।

पिछले छह सौ वर्षों का भारतीय जीवन और साहित्य, विशेषकर उत्तर भारत का, कबीर की उपस्थिति से भरा हुआ है। अलग-अलग संदर्भों और स्थितियों में कबीर उपस्थित हैं। मैंने और मेरे जैसे अनेक लोगों ने बचपन से ही कबीर को अपने साथ पाया है। बिल्कुल शुरू के दिनों में कबीर के पद और दोहों को पढ़ते और रटते हुए हमें कभी लगा ही नहीं कि यह सदियों पहले की चीज है। 'मन न रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा, दढ़िया बढ़ाये जोगी बनि गइले बकरा' या 'ना मैं बकरी ना मैं भेंड़ी ना मैं छुरी गंडास में' जैसी पंक्तियां न सिर्फ हमें मुदित करती थीं बल्कि इन पंक्तियों ने ही पहले पहल हमारे भीतर प्रचलित पूजा-पाठ के प्रति शंका और विरोध का बीज भी बोया। पहली बार हमें ऐसे पद मिले 'मूरति से दुनिया फल मांगे और हाथ बनाये' या 'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़, ताते यह चक्की भली पीस खाये संसार' या 'हिंदुवन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई' जिन्होंने हमारे आसपास की दुनिया को संदेह से देखना सिखाया। फिर 'हमन तो इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या' या 'मन लागो मेरो यार फरीकी में' जैसे पदों ने हममें बेफिक्री, आजादी और अक्खड़पन का भाव जगाया। थोड़ा सयाने होने पर 'निर्भय निर्गुन गुन रे गाऊंगा' या 'गगन घटा घहरानी'

तथा 'अवधूता जनम-जनम हम योगी' जैसे पदों ने हमें आंतरिक रूप से समृद्ध किया। कबीर ने हमारा नया संस्कार किया—निर्भीकता, निस्संगता और गहरी आत्मबद्धता के संकल्प से समृद्ध किया। हमने यह भी देखा कि कैसे कुछ लोग एक शव को गाते-बजाते ले जा रहे हैं। यह अभूतपूर्व दृश्य था। मृत्यु का उत्सव कबीर साहब की बानी में।

यह वह पृष्ठभूमि है जो आज के औसत कवियों, हिन्दी के कवियों-लेखकों की सम्मिलित पृष्ठभूमि है। साहित्यालोचन के भीतरी विवादों-द्वन्द्वों तथा धर्म-दर्शन सामाजिक सुधार आदि के विवादों-झंझटों से भी पृथक, यह वह पृष्ठभूमि है जिस पर प्रायः प्रत्येक हिन्दी कवि-लेखक की बेल उगी है। इसलिए कि कबीर हमारे रोज-ब-रोज के जीवन में शामिल हैं—'सब स्वांसों की स्वांस में।' फिर भी, हम कबीर को आज कैसे पढ़ते हैं, यह सवाल तो है ही।

बचपन से ही हम कबीर का एक चित्र देखते आये हैं। उनकी आंखें झुकी हैं। दाढ़ी खसखसी। पतला-सा चेहरा। और मस्तक पर मोरपंख। आज भी मुझे नहीं मालूम कि यह मस्तक पर मोरपंख क्यों है। कोई न कोई गूढ़ कारण तो होगा ही जो मैं नहीं जानता या नहीं जान पाया। लेकिन खास बात है कबीर के मस्तक पर मोरपंख का होना। मेरे लिए मोरपंख महत्त्वपूर्ण है। मेरे लिए कबीर का कवि-रूप महत्त्वपूर्ण है। कबीर जो कवि हैं।

अक्सर कबीर के दर्शन पर बात होती है। उनके धार्मिक चिंतन पर। समाज-सुधार के पक्ष पर। जाति-प्रथा के विरोध और पाखंड के विरुद्ध आक्रमण पर। वह हिन्दू थे या मुसलमान इस पर। सारी बातें जरूरी और प्रासंगिक हैं। लेकिन मुझे लगता है, ये बातें इसलिए जरूरी हैं कि कबीर कवि थे। कबीर संत कहे जाते हैं। लेकिन संत तो और लोग भी हुए। समाज-सुधारक, धार्मिक चिंतक या दार्शनिक भी और हुए।

कबीर ने इन सब तत्त्वों का उपयोग अपनी कविता में किया। कविता से बाहर कुछ भी नहीं। इसलिए जो महत्त्व का है वह कविता के भीतर है, उसे पृथक कर के देखने का कोई अर्थ नहीं। हम कबीर के दर्शन या चिंतन से सहमत हों या न हों, उनकी कविता इसकी मोहताज नहीं। कबीर ने कविता की। उनके लिए ये सारे तत्त्व कविता के तत्त्व बनकर आये जैसा कि किसी भी कवि में होता है। उनके मस्तक पर मोरपंख था जो किसी अन्य संत या सुधारक के मस्तक पर नहीं लगा। यह मोरपंख क्या है? कबीर की कविता क्या है?

किसी संत के लिए जगत अपरिहार्य नहीं भी हो सकता। बल्कि जो विरागी हैं उनके लिए यह संसार 'कागद की पुड़िया' ही तो है—'यह संसार रैन के सपना ओस बुन्द झलकी।' कबीर में भी यह भाव लगातार मिलता है। संत के लिए अपेक्षित है जगत से मुक्ति। सब कुछ छल-प्रपंच है। 'कनक और कामिनी', 'सारे रिश्ते-नाते', यह शरीर सब कुछ भंगुर और मिथ्या है। 'रहना नहीं देस बिराना है।' अंतिम ध्येय है साई से संयोग, ब्रह्म से मिलन। संत के लिए सब कुछ का त्याग जरूरी है। यहां तक कि स्मृति का भी। लेकिन किसी कवि के लिए यह संभव नहीं। बिना इन्द्रियों के, बिना स्मृति के कविता संभव भी नहीं। इन्द्रियों की क्रिया को स्थगित करके कविता संभव नहीं। कबीर भी लगातार 'आंखिन देखि' पर जोर देते हैं। दिलचस्प यह है कि कबीर ने संसार की नश्वरता और निस्सारता का वर्णन अत्यंत आवेग तथा गहन इन्द्रियबोध के साथ किया है—'उड़ जायेगा हंसा अकेला', या 'एक दिन पंछी निकल जायेगा मिट्टी जंगल की' या

तिंवि र सांझ का गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तन में।
पच्छिम दिसकी खिड़की खोलो, डूबहु प्रेम-गगन में
जीवन की निस्सारता और भंगुरता का उनका कोई भी पद हमें वापस जीवन के तट पर ही पटक जाता है—

बागों ना जा ना जा रे तेरी काया में गुलजार।
सहस्र कंवल पर बैठके तू देखे रूप अपार

यही कविता की विवशता है।

दिलचस्प यह भी है कि आत्मा और ब्रह्म के मिलन की, उस दिव्य, वर्णनातीत अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हुए कबीर जो बिम्ब लाते हैं, वे सब प्रायः भौतिक जगत के बिम्ब हैं। जो अनुभूति वर्णनातीत है उसकी अभिव्यक्ति शायद ऐसे ही बिम्बों से संभव थी—

जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे
पिया से हिलमिल लागे
घूंघट खोल अंग भर भेंटे
नैन आरती साजे।

मृत्यु के प्रसंग में जो बिम्ब आते हैं वे भी जीवन की गहरी आसक्ति के बिम्ब हैं—

कबीर धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार।
अहरणि रह्या ठमकड़ा, जब उठि चले लुहार

(धमनी धौंकती-धौंकती रह गयी, अंगारे बुझ गये और अहरण (निहाई) पर ठमक रह गयी जब लुहार उठ कर चला)

या फिर

कबीर मरि मड़हटि रह्या तब कोई न पूछै सार।
हरि आदरि आगैं लिया ज्यों गरु बछ की लार

जिस प्रकार गाय बछड़े को लेती है—ज्यों गरु बछ की लार—वैसे ही हरि ने मृत कबीर को लिया। इतना आवेगपूर्ण बिम्ब कबीर देते हैं, मृत्यु के बाद की स्थिति को व्यंजित करने के लिए।

कबीर के विचार चाहे जो हों जब वे कविता में आते हैं तो उसी रूप में नहीं जैसे वे अन्यत्र थे। कविता में जीवन की निस्सारता तथा मृत्यु के ऐश्वर्य के चित्र भी जीवन के प्रति लालसा ही उत्पन्न करते हैं क्योंकि जो बिम्ब आते हैं वे साक्षात् भौतिक जगत के एवं इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते हैं। लेकिन कहीं भी चिंतन तथा काव्य में कोई फांक नहीं दिखाई देती—

ताता लोहा यूं मिले, संधि न लखई कोई।

किन्तु कबीर स्थूल जगत के कवि नहीं हैं। कबीर शरीर या मस्तिष्क के कवि नहीं हैं। ज्ञान या संवेदना के

नहीं, वह आत्मा के कवि हैं। उनका लक्ष्य जगत व्यापार का चित्रण नहीं है। न ही वह मानसिक प्रतिक्रिया का अंकन करते हैं। मनुष्य के विभिन्न भावों अथवा मानव-सम्बन्धों के भी चित्रकार वह नहीं हैं जैसा कि बहुधा देखा जाता है। कबीर मनुष्य की आत्मा के कवि हैं। अस्तित्व के कुछ बुनियादी प्रश्नों के कवि हैं। जीवन के होने या न होने की चिंता के, जीवन के वास्तविक अर्थों के संधान के कवि हैं। जीवन के विलोप, मृत्यु में इसके पर्यवसान और उपरांत के कवि हैं। मुक्तिबोध ने जिस ज्ञानात्मक संवेदन तथा संवेदनात्मक ज्ञान की बात कवि-कर्म के संदर्भ में की है वह कबीर के मामले में पर्याप्त नहीं है। कबीर एक ऐसे दुर्लभ कवि हैं जिनमें आध्यात्मिक संवेदन के दर्शन होते हैं और उनकी कविता आत्मा की, जीव की मुक्ति की कविता है—

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।

राहु-केतु नवग्रह नाचें, जन्म जन्म आनंद होइ।
गिरी-समुन्द्र धरती नाचै, लोक नाचै हंस रोइ।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझ सिरजनहारा।

कबीर आत्मा की मुक्ति और उल्लास के कवि हैं, इस ब्रह्माण्ड के साथ मानव-मन के सम्बन्ध के कवि हैं। हम साधारण लोगों के लिए सुख-दुख का जो अर्थ है कबीर की कविता उससे ऊपर उठकर आत्मा की मुक्ति का गुणगान करती है। कबीर ने भौतिक अस्तित्व के न होने को, दैहिक अनुपस्थिति एवं आत्मा की स्वतंत्रता को काव्य में व्यक्त किया—

अवधूता जनम जनम हम योगी।

लेकिन कविता की विवशता यह है कि जो इन्द्रिय से परे है उसे भी ऐन्द्रिक बिम्बों के जरिए ही व्यक्त करना होता है। गूंगे को भी गुड़ का स्वाद बताना पड़ता है। कबीर ने इसीलिए जीवन के विभिन्न प्रसंगों से अपनी सामग्री चुनी। यह सही है कि वह स्थूल अर्थ में जीवन के विवरण के कवि नहीं हैं। लेकिन उनकी कविता में सर्वाधिक प्रसंग या बिम्ब दुख एवं पीड़ा के हैं—दुनिया भांडा दुख का। आत्मा की मुक्ति के आह्लाद के क्षण में भी कबीर उन बिम्बों को नहीं भूलते—

कबीर जेते तारे रैणि के, तेते बैरी मुझ।

धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौ तुझ

उनके यहां भूख के, भीख मांगने के इतने सारे प्रसंग हैं—‘सबहिं भुलावा पेट के धंधा’, ‘कबीर मांगन मरण समान है...मति रे मंगावै मोहि’, ‘कबीर भूखा-भूखा क्या करै’, ‘गृही तौ च्यंसा घणीं, बैरागी तौ भीख’ आदि आदि। कबीर के बाद फिर तुलसीदास में ही भूख और दैन्य के इतने दारुण चित्र मिलते हैं—‘जहां जाऊं तहं सोग संताप।’ बुढ़ापे की असहाय अवस्था के इतने बिम्ब शायद ही कहीं और हों—

घर की नारि विमुख होय बैठी पुत्र करत बदनाम।

बरबरात है बिरथा बूढ़ा अटपट आठो जाम

या,

टूटी खाट पुराना झिलगा पड़े रहो दरवाजा।

या,

लड़िका बौहर बोली बोले बुढ़ऊ मरि न गयो।

प्रायः उनके बिम्ब समाज की सर्वाधिक दलित श्रेणियों के जीवन से आते हैं—बुनकर, धोबी, बढई, लुहार, कुम्हार, गुलाम, महरा, भिखारी और स्त्रियां। देखकर आश्चर्य होता है कि ‘सती’ के इतने बिम्ब यहां मिलते हैं और प्रायः सभी से सती के समर्थन का बोध होता है।

कबीर को पढ़ते या सुनते हुए गहरी पीड़ा और विषाद की अनुभूति होती है। ‘रैन गयी मत दिन भी जाय’ ऐसा ही एक पद है। कविता के लय में, शब्दों के नाद में बहुत गहरा दुख पेबस्त है जो केवल कबीर का नहीं, सम्पूर्ण भारतीय जीवन, विशेषकर दलित-उत्पीड़ित समुदाय का दुख है। क्या यह अकारण है कि ‘कफ़न’ के पात्रों को कबीर ही याद आते हैं? कबीर का संगीत सर्वाधिक विपन्न, निराश और मृत्यु के कगार पर टिकी जाति का संगीत है—

साधो यह तन ठाठ तंबूरे का।

यह दुख भौतिक दुख है, देह धरे को दंड तो है ही। इस दुख से मुक्ति की आकांक्षा के और उस अतीन्द्रिय

मुक्ति के भी कुछ विलक्षण बिम्ब कबीर में मिलते हैं। बेफिक्री, फक्कड़पन और मस्ती की जैसी अभिव्यक्ति कबीर से मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। यह इसलिए संभव हुआ कि यहां मृत्यु का भय नहीं है। आदि से अंत तक सम्पूर्ण कबीर-काव्य मृत्यु के आभास से भरा हुआ है।

कबीर रोवणहारे भी मूये, मूये चलावनहार।

हा हा करते ते मूये, कासिनि करौं पुकार

लेकिन यहां मृत्यु का शोक या भय नहीं है। मृत्यु इस भौतिक जीवन का अंत भले हो, लेकिन वह आत्मा की मुक्ति का केन्द्रीय रूपक है। लेकिन कबीर के काव्य में मृत्यु की इतनी लम्बी और गहरी छाया क्यों है? क्या यह निराशा की, विवशता की चरम अभिव्यक्ति है? क्या यह उन लोगों के जीवन का एकमात्र विकल्प है जिनके लिए यह दुनिया केवल सोग और संताप है? मृत्यु की ये कविताएं हमें इतना अधिक क्यों खींचती हैं? उनमें ऐसा क्या है जो हमें बांधे रखता है और फिर उसी वेग के साथ हमें जगत-व्यापार में वापस फेंक देता है? मृत्यु का यह उत्सव हमें जीवन के प्रति गहरी लालसा से भर देता है—

उड़ जायेगा हंसा अकेला...।

एक बात और। मृत्यु की यह बारम्बार आहट हमें निर्मल भी करती है। यह चेतावनी भी है। कबीर हमारे नैतिक शिक्षक हैं। वे हमसे पूछताछ करते हैं, हमसे हमारा ही भेद लेते हैं, हमारे कर्मों के लिए सफाई मांगते हैं। हम सोचने को मजबूर होते हैं कि यदि मृत्यु आसन्न है तो फिर यह झूठ, पाखंड और लोभ क्यों?

मन रे तन कागद का पुतरा।

*लागै बूंद बिनसि जाइ छन में, ग्रब करै क्या इतरा
माटी खोदहिं भीत उसारै, अंध कहैं घर मेरा।
आवै तलब बांधि लै चालै, बहुरि न करिहैं फेरा
खोट कपट करि यह धन जोरयो, लै धरती में गाड्यो।
रोक्यौ घट कि सांस नहिं निकसै, ठौर ठौर सब छाड्यो
कहै कबीर नट नाटिक थाकै, मंदला कौन बजावै।
गये परबनियां उझरी बाजी, को काहू कै आवै*

एक अन्य मार्मिक दोहे में कबीर कहते हैं—

कबीर आपण पौ न सराहिए, और न कहिए रंक।

ना जाणौं किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करंक

पता नहीं किस वृक्ष के नीचे हमारी हड्डियां कूड़ा हों। तब क्यों न इस चादर को दास कबीर की तरह जतन से ओढ़ा जाये और फिर ज्यों का त्यों धर दिया जाये। क्योंकि यह जीवन पवित्र है, क्योंकि यह जीवन अमोल है—हीरा जन्म अमोल था कौड़ी बदले जाय। इसलिए हमें एक-एक क्षण का हिसाब देना है। पल में प्रलय होने वाला है, बहुरि करोगे कब?

कबीर नाउं न जाणौं गांव का, मारगि लागा जाउं।

काल्हि जु कांटा भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ाउं

इसलिए अभी करना है जो भी करना है—‘उठो ज्ञानी खेत संभारो बह निकसेगा पानी।’ कबीर की कविता निरंतर कर्म पर आग्रह की कविता है।

कबीर हमारे अहंकार को, हमारे अस्तित्व की मिथ्या को तोड़ते हैं। उनकी कविता के सामने हम निर्वस्त्र खड़े होते हैं। यह हमारी नैतिक भर्त्सना ही नहीं, हमारे परिष्कार और संशोधन की, हमारे जीवन-धर्म के जागरण की कविता है—तोरी गठरी में लागे चोर बटोहिया का सोवै। इसीलिए यह निरंतर स्वयं से, आत्म से उलझने-झगड़ने की कविता है—मन तोहे किहि बिधि मैं समझाऊं। मृत्यु के उत्सव के बावजूद कबीर की कविता अंततः जीवन के प्रति प्रेम और ममत्व की कविता है, जैसे गाय बछड़े से लार लगाती है वैसी कविता।

जीवन के प्रति अपने इसी लगाव के कारण कबीर हमें डांटते भी हैं और समाज की बुराइयों, पाखंड और मिथ्या आचरण पर प्रहार करते हैं। उनके लिए मनुष्य सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसे साईं ने गढ़ा है। फिर इतने सारे भेद कैसे? चाहे ब्राह्मण हो या भंगी सब तो एक ही द्वार से निकसे हैं, फिर कैसी शुचिता? फिर कैसा ऊंच-नीच का भेद? कबीर ने जिस शक्ति के साथ सामाजिक भेदभाव पर प्रहार किया वह अपने आप में एक उदाहरण है। इसी कारण कबीर पिछले छह सौ वर्षों के

दौरान हुए सामाजिक आंदोलनों के नायक रहे। कबीर की बानी उनकी बानी है जो बोल नहीं सकते। कबीर की कविता ने सर्वाधिक दलित जीवों को जीने का तर्क बताया। कविता ऐसी भी करती है। करती रही है। वह केवल व्यक्ति ही नहीं पूरे समाज से सवाल-जवाब करती है। यह कैसा जीवन है जो नरक से भी बदतर है। इसके बने रहने का क्या औचित्य है? और कबीर की कविता हमारा आह्वान करती है कि उठो और इसे बदलो। यह केवल संत की वाणी नहीं है। कबीर सामूहिक कर्म का आह्वान करते हैं। इसलिए उनका हर पद एक सम्बोधन है—

कहत कबीर सुनो भाई साधो!

लेकिन। क्षमा करेंगे, मुझे बार-बार लेकिन शब्द का व्यवहार करना पड़ रहा है। क्योंकि कबीर के बारे में कोई भी बात पूरी या अंतिम नहीं। हमेशा उसी सांस में एक दूसरी बात भी कहनी पड़ती है जो पिछली बात के उलट भी हो सकती है। तो, कबीर सामूहिक कर्म के पक्षधर हैं। लेकिन बार-बार वहां लौट जाते हैं जहां उनका अंतरंग जीवन है—हंसा करौ पुरातन बात। एक व्यक्ति के भीतर का वह अवकाश जहां 'रस गगन गुफा में अजर झरै।' कहते हैं—

*सभी ठौर जमात हमरी सभी ठौर पर मेला।
हम सब माय, हम ही सब माय, हम हैं बहुरि अकेला*

फिर-फिर अकेला। और यह अकेला होना व्यक्ति की निजता है, उसके अस्तित्व की अनिवार्यता। कबीर उस निजता, उस आंतरिक अवकाश और अकेलेपन के भी कवि हैं। इसीलिए हम अकेले में कबीर को इतना करीब पाते हैं। यह वह स्वर है जो हमारी ही 'हृत्तंत्री' से बजता हुआ लगता है। गगन में आवाज हो रही झीनी-झीनी। हालांकि इस अकेले होने को ही केवल न देखा जाये। उपर्युक्त पंक्तियों में केवल एक खंड है 'बहुरि अकेला' शेष में जमात है, मेला है और सब है। कबीर फिर-फिर वहां लौट जाते हैं जहां जीव बिलकुल अकेला होता है जो कि हर मनुष्य की नियति है—

देस विदेसन हों फिरा गांव गांव की खोरी।

ऐसा जियरा ना मिला लेवे फटक पिछोरी

इन गंभीर क्षणों में भी कबीर हंसना नहीं भूलते। उनमें हंसी खूब है—मोहे देखत आवे हांसी। जीवन और जीव की दुविधा पर, विडम्बना पर और अपने आप पर—डर लागै और हांसी आवै। यह हंसी स्वाधीन चित्र की हंसी है। बिना नैसर्गिक तटस्थता के द्वेषहीन हंसी दुर्लभ है। यह हंसी कितने रूपों में कबीर में मौजूद है यह देखने के लिए हम इस पद को लें—

*कैसे नगरि करौ कुटवारी। चंचल पुरिष बिचषन नारी
बैल बियाइ गाइ भई बांझ। बछरा दूझै तीन्यों सांझ
मकड़ी घरि माषी छछिहारी। मांस पसारि चील्ह रखवारी
मूसा खेवट नाव बिलइया। मींडक सोवै सांप पहरइया
नित उठि स्याल स्यंघसूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै*

इसकी व्याख्या भी मिलती है। तकनीकी व्याख्या। अपने उटपटांग बिम्ब-विधान के कारण यह कविता हंसी का अवसर तो देती ही है, हमें यह भी छूट देती है कि भिन्न संदर्भ में हम भिन्न अर्थ निकाल लें। क्या इसे पढ़कर हमें वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था की याद नहीं आती? ऐसी उलटबांसियां क्यों लिखी गयीं या लिखी जाती हैं, मैं नहीं जानता। हो सकता है कोई परिपाटी रही हो। लेकिन इतना तय है कि यह शब्दों का खेल है, भाषा की बाजीगरी।

यहीं पर यह भी सवाल उठता है कि क्या कबीर की भाषा अपरिमार्जित या जैसा प्रायः कहा जाता है सधुक्कड़ी है, या भाषा की कोई अधम कोटि। कबीर की भाषा बस वैसी है जैसी उसको होना था, जिस काम के लिए वह बनायी गयी थी। भाषा का ऐसा विराट वर्णक्रम दुर्लभ है। कबीर का कहना है—

कबीर मीठा खाणा मधुकरी, भांति भांति का नाज।

दावा किसहि का नहीं, बिन बिलाइति बड़ राज

थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अनेक घरों से प्राप्त की हुई शिक्षा मीठा खाना है, क्योंकि उसमें भांति-भांति के अन्न रहते हैं, उसमें किसी का दावा नहीं है, और बिना बिलाइत (देश-ग्राम) के ही राज्य का सुख रहता है। कबीर की भाषा में इतने घरों के दाने हैं, इतने खेतों के

अन्न। कबीर की भाषा स्थूल से लेकर अतीन्द्रिय तक सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त करती है। इतने कम स्थान में यह कविता मनुष्य के जीवन और मन के इतने सारे द्वन्द्वों, संघर्षों, त्रासदी तथा प्रहसन को व्यक्त करती है।

तो क्या कबीर को यह भान था कि वह कविता कर रहे हैं। क्या यह सब सजग सचेत रूप से हुआ? जहां-तहां ऐसे प्रमाण जरूर मिलते हैं जिससे लगता है कि कबीर को अपने विशिष्ट कर्म का अहसास था। एक जगह वह कहते हैं—

कबीर चल्या जाइ था आगै मिल्या खुदाइ।

मीरा मुझ सूं यूं कह्या किनि फुरमाइ गाइ

खुदा के कहने पर उन्होंने गाने का रास्ता अख्तियार किया वरना वह तो यूं ही चले जा रहे थे।

एक और बिम्ब जो बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है अग्निपक्षी का—

कबीर अनल अकांसां घर किया, मधि निरंतर वास।

वसुधा व्योम बिगता रहै, बिन ठाहर बिस्वास

अनल पक्षी (अग्नि पक्षी) 'ककनूस' है जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि जब वह भावविभोर होकर गाता है तो उसके शरीर से लपटें निकलने लगती हैं जिनसे उसका घोंसला जल जाता है। अनल पक्षी ने अपने घोंसले को जलाकर आकाश में घर किया तो उसका निवास धरती तथा आकाश के मध्य हो रहा। वह वसुधा और व्योम से विगत होकर रहता है और दोनों ही स्थानों में उसे विश्वास नहीं है। यहां अनल पक्षी मध्यम मार्ग का साधक तो है ही, लेकिन क्या वह स्वयं कवि का प्रतीक नहीं है, हर युग के कवि का, जो अपने गान से अपने ही नीड़ को भस्म कर देता है और फिर वसुधा और व्योम के बीच गूंजता रहता है एकाकी—

जो घर जारै आपना चलै हमारे साथ

यह अपना नीड़ जलाने वाला, अपना घर जलाने वाला कौन है। साधक भी है और अंततः कवि। एक मार्मिक पद में कबीर कहते हैं—ठाढ़ी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यों जीवै खुदाई। कबीर की मां खड़ी-खड़ी रो रही है कि यह लड़का बिना आजीविका के संसार में कैसे जिएगा। उसने तो अपना नीड़, अपना घर

भी जला लिया है। एक जगह और कबीर कहते हैं—

साध संग्राम है रैन दिन जूझना

देह परजन्त का है काम भाई

यह रैन-दिन जूझने का संग्राम किसका है। साधक का तो है ही। यह कवि का भी काम है। रैन-दिन देह परजन्त जूझते रहना। इसीलिए कबीर को कभी भी चैन नहीं—

दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।

कबीर की कविता इसी रैन-दिन जूझते रहने की, संग्राम की कविता है, आत्मा की मुक्ति की आकांक्षा में देह परजन्त जूझने और फिर भी अपनी जीवन-चादर को बेदाग रखने की आकांक्षा की कविता। इस कविता का दीपक अनवरत जलता रहेगा—

कबीर दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।

पूरा किया बिसाहुणां बहुरि न आऊं हट्ट

(साभार : कबीर का महत्त्व)

बस यही इक आस है

रचयिता—देवेन्द्र कुमार

धर्म भी हैं बिक रहे, ईमान भी हैं बिक रहे।
इंसानों को मारने को, इंसान भी हैं बिक रहे
जाति धरम के नाम पर, इंसान हैं झगड़ रहे।
असली धरम है शील, लेकिन नहीं समझ रहे
ईश्वर खुदा के नाम पर, पाखंड हैं रच रहे।
हर जीव खुद ईश्वर है, लेकिन नहीं समझ रहे
आये जहां में किसलिए, और किसलिए हैं जी रहे।
कल्याण मार्ग छोड़कर, जाने कहां भटक रहे
हो रहा है देश में, चारों तरफ व्यभिचार है।
इंसान की हालत देखकर, कुदरत भी लाचार है
लेकिन इसी जहां में, कबीर का सद्ज्ञान है।
जो बनाता आज भी, इंसान को इंसान है
गुरु देव जी बस आप से, अब यही अरदास है।
छाया बनाये रखना मुझ पर, बस यही इक आस है

सद्गुरु कबीर : बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी

लेखक—श्री रणजीत कबीरपंथी

जिनके नाम इतिहास में अमर ही नहीं हुए, बल्कि जिनके नाम से इतिहास अमर हो गये, ऐसे महापुरुषों के नामों में एक नाम है परम पुरुष संत सम्राट सद्गुरु कबीर! 'कबीर' एक ऐसा नाम है जिसके लेते ही आदमी में आत्मगौरव का संचार होने लगता है। उसमें आत्म स्वाभिमान जाग उठता है।

वास्तव में कबीर साहेब में गजब का आत्मबल था। हीन भावना का तो उनमें नामोनिशान ही नहीं था। जबकि उनके जन्म के सम्बन्ध में जो दंतकथाएं प्रचलित हैं, लोक मान्यतानुसार उन्हें अच्छी नहीं माना जाता है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। उनके जन्म के विषय में जितने मुंह उतनी बातें।

किसी अन्य व्यक्ति के जन्म के विषय में यदि ऐसी बातें प्रचलित हों तो वह हीन भावना से ग्रसित हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु कबीर साहेब में ऐसी कोई बात नहीं देखी जाती है। इसका कारण उनका आत्मबल है। वे गजब के आत्मबली थे। उनमें इस कारण कभी कोई हीन भावना उत्पन्न नहीं हो पाई कि वे निम्न मानी गई जुलाहा जाति के नीरू-नीमा नामक दम्पति द्वारा पाले-पोषे गये। वे जुलाहों और कसाइयों की बस्ती में रहते थे। सूत कातकर और कपड़ा बुनकर अपना पेट पालते थे। उलटे, वे तो अपनी जाति और अपने व्यवसाय पर गर्व करते थे। इस विषय में वे ब्राह्मण नामधारियों को बीच बाजार में खड़े होकर उन्हें ललकारते हुए कहते हैं कि 'तू ब्राह्मण है तो मैं भी काशी का जुलाहा हूँ। तुझसे किसी भी बात को लेकर कम नहीं हूँ। तू अपना ज्ञान अलग रख और वास्तविक ज्ञान मुझसे सीख।' 'तू बाभन मैं काशी का जुलाहा, बूझ मोर ग्याना।' उनकी ऐसी बातें सुनकर बेचारे ब्राह्मण कुछ नहीं कह पाते। वे उनका मुंह देखते रह जाते। उनके पूरे जीवन में कोई माई का लाल ऐसी हिम्मत नहीं कर पाया कि वह उनके विषय में प्रचलित जन्म, जाति आदि की बातों को लेकर उनकी

तौहीन कर सके, उनका उपहास कर सके, उन्हें हीन मान सके। वास्तव में गजब के आत्मबली एवं जिन्दादिल इनसान थे वे। इसलिए यदि किसी व्यक्ति के जन्म और जीवन के सम्बन्ध में ऐसी बातें हों तो उन्हें सद्गुरु कबीर साहेब के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए और कभी भी अपने आप को हीन भावना से ग्रसित नहीं होने देना चाहिए। उन्हें विचारना चाहिए कि यदि कबीर साहेब भी अपने जन्म सम्बन्धित बातों तथा अपने जाति, वर्ण और व्यवसाय आदि को लेकर हीन भावना से ग्रसित बने रहते तो क्या आज उनका नाम होता! शायद नहीं।

कबीर साहेब के विराट व्यक्तित्व की एक विशेषता यह रही कि अन्य मत-पंथ तथा धर्म-सम्प्रदायों के गुरुओं की तरह उन्होंने अपनी बातें लोगों से बलात मनवाने की कभी कोई चेष्टा नहीं की। जबकि हम देखते हैं कि लगभग विश्व के सभी धर्मगुरुओं ने अपनी बातें, अपने शास्त्रों की दोहाई देकर लोगों से मनवाने की कोशिश की है। वे अपनी बातों को अपने गुरुओं और पीर-पैगम्बरों के आप्त वचन कहकर मनवाते हैं। और वे मनवाते हैं अपने धर्म की पोथियों को ईश्वरीय वचन कहकर। अपने मत-पंथ और परम्परा की दोहाई देकर। कबीर साहेब ने ऐसा बिलकुल भी नहीं किया। हां, वे अपनी बातों पर विचार करने को कहते हैं। विवेक की कसौटी पर कसने को कहते हैं। इसके पश्चात ही उन्हें मानने को कहते हैं।

कबीर साहेब के अनूठे व्यक्तित्व की एक विशेषता यह है कि वे सत्य के अनन्य उपासक हैं। उनमें सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहने का अपार साहस था। वे बिना किसी का मान-मुलाहिजा पाले, जिसमें जो गड़बड़ बात होती थी, उसे कहे बिना रह नहीं पाते थे। फिर वह पण्डित-पाण्डे हो या मुल्ला-काजी हो। या और भी कोई धर्मगुरु हो। उनमें गड़बड़ी देखी कि

बस...लगा दी उन्हें फटकार। और वह भी बीच बाजार में खड़े होकर; सबके सामने। जबकि उस जमाने में लोगों में धार्मिक कट्टरता आज से हजार गुना अधिक थी। शायद ही आज कोई किन्हीं धर्मगुरुओं को उनके ढोंग-पाखण्डों को लेकर ऐसी बात सरेआम बीच बाजार में खड़ा होकर कह सके। बीच बाजार में तो दूर, अपने मठ-मंदिर या घर में बैठकर भी कहना बड़े हिम्मत की बात होगी। क्यों? क्योंकि कहने वाले न तो सत्य के पुजारी होते हैं और न ही उनमें कबीर साहेब के समान सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहने का साहस होता है।

कबीर साहेब के बहुआयामी व्यक्तित्व की एक और विशेषता बरबस ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उनकी यह विशेषता है जन सामान्य को अपने समान समझना। वे अन्य धर्मगुरुओं की तरह अपने श्रोताओं या जन-सामान्य को अपने से कमतर बिलकुल नहीं मानते हैं। वे तो उन्हें अपना भाई कहते हैं। उन्हें साधु कहते हैं। 'कहहिं कबीर सुनो भाई साधो' उनकी यह स्नेहसिक्त एवं अमृतमयी वाणी उनके प्रत्येक पद एवं साखी-शब्द में जरूर दिखाई देती है। वे बड़े प्यार से अपने शिष्यों को; जन सामान्य को कहते हैं, 'तू मेरा भाई है, तू साधु है।'

विश्व में कदाचित ही कोई ऐसा महापुरुष हुआ है जिसने अपने श्रोताओं को, जन सामान्य को अपना भाई या साधु कहा हो। इसके विपरीत वे तो उन्हें दीन, हीन, अज्ञानी और न जाने क्या-क्या कहते रहते हैं। ऐसा नहीं कहते हैं तो अधिक से अधिक उन्हें शिष्य कह देते हैं। उनके मुख से 'भाई' या 'साधु' शब्द किसी के लिए नहीं निकला। निकलता भी कैसे! जब वे अपने से भिन्न मत-पंथ, धर्म-सम्प्रदाय के गुरुओं को भी साधु-संत या अपना भाई नहीं मानते तो जन सामान्य को कैसे मानेंगे?

सद्गुरु कबीर साहेब धर्मगुरुओं से दस कदम नहीं...सौ कदम नहीं... बल्कि हजारों हजार कदम आगे हैं। वे अपने शिष्यों को अपना सेवक या दास नहीं कहते। वे तो उन्हें अपना पुत्र और यहां तक कि देवता कहकर पुकारते हैं। उनसे अपनी सेवा कराने की बात

नहीं कहते हैं। वरन् वे तो उनकी सेवा करने की बात कहते हैं, 'तैं सुत मान हमारी सेवा, तो कहँ राज देउँ हो देवा।' 'हे मेरे प्यारे पुत्र...हे मेरे लाड़ले बेटे...और हे मेरे देवता....मैं तेरी सेवा करने के लिए तैयार हूँ। इसलिए तू मेरी सेवा स्वीकार कर। मैं तुझे राज-सिंहासन पर बैठाना चाहता हूँ।' जरा सोचिए, कबीर साहेब जैसे परम पुरुष के द्वारा सामान्य जनों को इतने स्नेहसिक्त, प्यार भरे और आदरसूचक वचन कहना कितना अद्भुत है! समूचे विश्व में है ऐसा धर्मगुरु जो अपने शिष्यों की सेवा करने के लिए तैयार हो। उन्हें अपना पुत्र और देवता कहता हो। वास्तव में कबीर साहेब महान हैं। उनकी कोई मिसाल नहीं। वे बेमिसाल हैं।

सद्गुरु कबीर साहेब के बेमिसाल होने का एक और उदाहरण लें। वे लोगों को अपना पिता, पिता का भी पिता (दादा-बाबा) कह देते हैं। इसके पश्चात उनके चरणों में बैठकर उनकी वंदना करने तक की बात कह देते हैं। जरा सोचिये, यह कितनी निराली, करुणामयी, दयामयी और विनम्रतामयी बात है। कितना अनूठा व्यक्तित्व है उनका। 'दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।'

जैसा कि पूर्व में कई बार इस बात को कह आये हैं कि कबीर साहेब का व्यक्तित्व बहुआयामी है। उनके व्यक्तित्व का प्रत्येक आयाम अत्यन्त ही आकर्षक, उज्ज्वल एवं आभामयी-चमकीला है। हम जिस आयाम को देखते हैं, बस हमारी निगाहें एकटक उसी को देखती रह जाती हैं। वहां से हटने का नाम ही नहीं लेतीं। टकटकी बांधकर उसी को निहारते रहना चाहती हैं। और...और जब हम उनके किसी दूसरे आयाम को देखते हैं तो फिर हमारा वही हाल...। वहीं खो जाते हैं हम।

वाकई कबीर साहेब धर्म और अध्यात्म जगत के अद्भुत महापुरुष हैं। ईश्वर, धर्म, मत-पंथ और सम्प्रदायों के नाम पर जितने भी ढोंग-पाखण्ड और अंध विश्वास फैले हुए थे, उन्होंने जीवन भर उन्हें समाप्त करने का कार्य किया। उन्होंने मनःकल्पित ईश्वर-भगवानों और देवी-देवताओं तथा स्वर्ग-नरक, साकेत लोक, गोलोक, ब्रह्मलोक और सतलोक जैसे काल्पनिक

लोक-लोकान्तरों की हकीकत बताकर लोगों को उनके जाल-जंजाल से बाहर निकालने का महत्तम कार्य किया। उन्हें 'निजलोक' अर्थात् 'निजस्वरूप' का यथार्थ बोध कराकर उसी में अपनी स्थिति बनाने का उपदेश किया। सही अर्थों में उन्होंने मानव को मानव बनकर जीने की राह बताई। वे जीवन भर दया, मैत्री, करुणा की निर्मल गंगा बहाकर सबको उसी में अवगाहन करने की प्रेरणा देते रहे और अपने आपको परम पावन, पूरी तरह से निर्मल बनाने को कहते रहे। परन्तु जैसा कि हम सभी यह जानते हैं कि संसार के कुछ नादान लोग न तो महापुरुषों द्वारा बताये गये उपदेशों के अनुसार चलते हैं और न ही उन जैसा बनने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोगों का यह कहना रहता है कि हम महापुरुषों-जैसा कैसे बन सकते हैं। वे तो महापुरुष हैं और हम साधारण इन्सान हैं। उन्होंने जो कुछ किया, वैसा हम कैसे कर सकते हैं! हम तो केवल उनका नाम जप सकते हैं, उनका गुणगान और भजन कर सकते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों ने ही महापुरुषों के सिद्धान्तों और उनके उपदेशों पर पानी फेरने का कार्य किया है। उन्हें पूजा की वस्तु बनाकर छोड़ा है। कहना न होगा कि अन्य महापुरुषों की तरह सद्गुरु कबीर साहेब को भी ऐसे ही लोगों ने मात्र पूजा की वस्तु बना डाला। उनकी मूर्ति, चित्र और तस्वीरों की पूजा करना, वहां अंगरबत्ती और दीपक जलाना, उनके आगे सिर झुकाकर 'साहेब बंदगी' करना, उनका भजन करना, नाम जपना, 'सत्तनाम... सत्तनाम...' कहना... बस...यह सब ही वे अपने धार्मिक कर्तव्यों की इतिश्री समझते हैं...सफलता समझते हैं। उन-जैसा बनने की बात ही वे नहीं सोच पाते। जबकि हकीकत तो यह है कि कबीर साहेब ने तो सबको यही संदेश और आदेश दिया है कि—'ऐ लोगो! यदि तुम सुखी बनना चाहते हो तो सब कुछ की आशा छोड़कर मेरे-जैसे बनो। मेरे-जैसा निष्काम बनने पर ही तुम सुखी और शांत हो सकते हो।' वे कहते हैं—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास

मौन

रचयिता—श्रीमती मीना जैन

मौन बहुत कुछ कहता है
मौन बहुत कुछ सहता है
शब्दों से भी अधिक प्रभावी
मौन दिशा-दशा तय करता है
मौन देता स्वीकारोक्ति
दर्शाता नकारात्मक प्रवृत्ति
बिन बोले समझा देता
विषय पर अपनी असहमति
मौन मिलन का मधुर क्षण
मौन विरह का शांत रुदन
मौन में चलती विचार यात्रा
मौन में चलता चिंतन-मनन
वाणी मौन विचार भी मौन
आत्म-केंद्रित जो हो जाता
सारी हलचल हो जाती शांत
निज-स्वरूप में रम जाता
मौन हो इतना शालीन
कोई दुर्विचार न आने पाए
उपालंभ हो जाते विलीन
मौन रहकर मति मुसकाए
प्रतिमा भी रहती है मौन
आराध्य, श्रद्धेय जन-जन की
वृथा शब्दों से मौन भली
राह दिखाए आत्म-दर्शन की।

अंत में, मानवता के अनन्य उपासक, अमर गायक और मानवता का ही संदेश देने वाले बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी परम पुरुष संत सम्राट सद्गुरु कबीर साहेब को कोटिशः वंदन....प्रणाम...साहेब बंदगी... साहेब बंदगी... साहेब बंदगी....।

व्यवहार वीथी

उत्तम व्यवहार के सूत्र

मनुष्य कहीं भी रहे कुछ लोगों के संग-साथ ही उसे रहना पड़ता है। मनुष्य जीवनपर्यंत नितांत अकेला नहीं रह सकता, उसे जीवन-निर्वाह के लिए, शिक्षा-दीक्षा या अन्य आवश्यकताओं के लिए दूसरों के संग-साथ की अपेक्षा होती ही है। यदि मनुष्य वैवाहिक जीवन अपनाता है तो उसे घर-परिवार के सदस्यों के साथ रहना पड़ता है, अनेक नाते-रिश्तेदारों से संपर्क-संबंध बनाकर रहना होता है और यदि विरक्त जीवन अपनाता है तो गुरु-शिष्य, भक्त-सज्जनों के संग-साथ उनके बीच रहना पड़ता है। हर स्थिति में अन्य लोगों से संबंध ही नहीं रखना पड़ता किंतु संग-साथ रहना पड़ता है। चाहे घर-परिवार में रहना पड़े और चाहे समाज-संस्था, मठ-आश्रम में, जिनके साथ रहना होता है सबके स्वभाव, संस्कार, रुचि, मान्यता, काम करने के ढंग में बड़ा अंतर होता है। ऐसी स्थिति में सबके साथ समन्वय स्थापित कर प्रेम-समता-एकता से रहना हंसी-खेल नहीं है। जहां अपने मन के प्रतिकूल बात-व्यवहार हुआ कब अपना मन अमर्ष से भर जाये या दूसरा आदमी बुरा मान ले कुछ कहा नहीं जा सकता।

जिन लोगों के संग-साथ रहना होता है या काम करना होता है उनके स्वभाव, संस्कार, काम करने का ढंग अलग होने के कारण, उनसे अपना मन न मिलने के कारण न तो उनसे अलग रहा जा सकता है और न काम करना बंद किया जा सकता है। स्वभाव-संस्कार न मिलने के कारण यदि उनसे अलग हो गये तो आगे जिनके साथ रहना और काम करना होगा उनके स्वभाव-संस्कार सब हमारे मन के अनुकूल ही होंगे, कहीं कुछ अंतर नहीं होगा, कुछ प्रतिकूलता नहीं आयेगी इसकी क्या गारंटी है। इतना समझना होगा और यह परम सत्य है कि कोई किसी को पूरा का पूरा नहीं बदल सकता। दूसरों को केवल राय दी जा सकती है। पूरा का पूरा तो अपने को ही बदला जा सकता है। जिनके संग-साथ रहना होता है उनसे प्राप्त प्रतिकूल बात-व्यवहार को निर्विकार भाव से सहन कर, विरोधी विचारों में

समझौता कर उन्हें प्रेम-आदर देते हुए ही सुख एवं प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीया जा सकता है।

आइये इसके लिए कुछ सूत्रों पर विचार करें—

. सेवा—हर मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य है कि वह घर-परिवार, संस्था, समाज, मठ-आश्रम जहां कहीं भी रहे ऐसा कोई बात-व्यवहार न करे जिससे दूसरों को किसी प्रकार कोई तकलीफ-असुविधा मिले, किंतु ऐसा बात-व्यवहार करे जिससे दूसरों को सुख-सुविधा, शांति-संतोष मिले। बाहर जो लूले-लंगड़े, अपाहिज, अभावग्रस्त, रोगी-दुखी हैं, यथाशक्ति समयानुसार उनकी सेवा तो करनी ही चाहिए। मुख्य बात है जिनके साथ रात-दिन का व्यवहार है और जिनके बीच रहना होता है उनके साथ ऐसा व्यवहार करना जिससे उनका मन प्रसन्न हो।

माता-पिता तो बच्चों की सेवा करते ही हैं, उनकी सेवा के बिना बच्चे न जी सकते हैं और न बड़े हो सकते हैं। घर-परिवार, संस्था-समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वे परस्पर एक-दूसरे का ख्याल रखें और एक-दूसरे के दुख-दर्द में सहभागी बनें। दुख-दर्द, विपत्ति में उपेक्षा का अनुभव न होने दें, किंतु सबको यह महसूस हो कि मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे दुख-दर्द, विपत्ति में घर-परिवार के सदस्य मेरे सहभागी हैं। शारीरिक सेवा की आवश्यकता तो कभी-कभी होती है, खास आवश्यकता होती है मानसिक सेवा की।

किसी भी प्रकार की सेवा में कष्ट तो होता ही है, किंतु जो कष्ट सहनकर भी सेवा करता है उसका अपना मन तो प्रसन्न रहता ही है, वह सेवा द्वारा दूसरों के मन को जीत लेता है और दूसरे सब लोग भी उससे प्रसन्न रहते हैं। अतः जहां रहें सेवापरायण रहें।

. सहयोग—व्यक्ति-व्यक्ति के मेल से ही परिवार-समाज बनता है और एक दूसरे के सहयोग से ही कोई भी छोटा-बड़ा काम सुचारु रूप से संपन्न होता है। कोई कितना भी बड़ा एवं योग्य क्यों न हो उसे भी दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। अपने अकेले के बलबूते वह कुछ नहीं कर सकता। दुनिया में ऐसा एक भी धनवान नहीं है, जिसे दूसरों के सहयोग की अपेक्षा-आवश्यकता न हो और दूसरों से कुछ भी सहयोग मिले बिना जीवन जी सके। तो दुनिया में ऐसा एक भी गरीब

नहीं है जो किसी न किसी रूप में दूसरों का सहयोग न कर सके।

हमारे हाथ की अंगुलियों में कितनी विषमता है। पांचों अंगुलियों की लंबाई-मोटाई में बहुत अंतर है, परंतु पांचों अंगुलियों के सहयोग-एकजुटता से हम कोई भी काम सरलता से कर पाते हैं। भोजन का ग्रास उठाने के लिए भी पांचों अंगुलियों का सहयोग चाहिए। विभिन्न योग्यता के लोगों में परस्पर कैसे सहयोग होना चाहिए इसे हम अपने शरीर के अंगों के उदाहरण से समझ सकते हैं। पैर में कहीं कांटा चुभता है, ठोकर लगती है तो वहां दर्द होता है, किंतु आंसू आंख से निकलता है और हमारे हाथ तुरंत उस कांटा को निकालने या पैर के कष्ट के निवारण के लिए सक्रिय हो जाते हैं। भोजन का थाल सामने आने पर हाथ कौर-ग्रास उठाता है, जीभ के सहयोग से दांत चबाते हैं, भोजन के अंदर जाने पर पेट पचाता है और शरीर के जिस अंग में जिस तत्त्व की आवश्यकता होती है बिना किसी पक्षपात के उस अंग में वह तत्त्व पहुंचा देता है। परस्पर सहयोग का कितना सुंदर उदाहरण है।

पिता-पुत्र की योग्यता में कितना अंतर होता है। पांच वर्ष का पुत्र तीस वर्ष के पिता के समान तेज कैसे चल सकता है, किंतु जब पिता पुत्र को अपनी अंगुली पकड़ा देता है और पुत्र पिता की अंगुली पकड़ लेता है तब दोनों की चाल बराबर हो जाती है। इसी प्रकार अस्सी-पचासी वर्ष का बूढ़ा पिता पचास वर्ष के पुत्र के बराबर नहीं चल सकता, किंतु जब पुत्र बूढ़े पिता की लाठी पकड़ लेता है तब दोनों की चाल बराबर हो जाती है। इसी प्रकार सभी क्षेत्रों में समझ लेना चाहिए।

पारस्परिक सहयोग से ही घर-परिवार, संस्था-समाज उन्नति के पथ पर आगे बढ़ सकता है। एक दूसरे के सहयोग से कठिन काम भी सरल हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है—चार जने की लाठी एक जने का बोझ। हेनरी फोर्ड का यह कथन कितना सार्थक है—“साथ-साथ मिलना प्रारंभ है, साथ-साथ बने रहना प्रगति है तथा साथ-साथ काम करना सफलता है।”

. **समझौता या समाधान**—हर आदमी दूसरों से अपने मन के अनुसार बात-व्यवहार चाहता है। न होने पर दुखी हो जाता है और सामने वाले के लिए विरोध

भाव भी बना लेता है। सभी लोगों के सभी विचारों में एकता-समानता होना संभव ही नहीं है। विचारों में अंतर रहेगा ही रहेगा। यदि सभी लोग अपने-अपने विचारों को ही श्रेय देने लगे और उसी के अनुसार काम करने लगे तो परिवार-समाज के सदस्यों में कभी एकता हो नहीं सकती। ऐसा परिवार-समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में किसी के मन में प्रसन्नता नहीं रह सकती।

हर आदमी को यह सोचना चाहिए कि जैसे मैं अपने मन के अनुसार काम करना चाहता हूं वैसा ही दूसरा भी चाहता है, फिर दूसरों से अपने मन के अनुसार सब कुछ कैसे करवाया जा सकता है। परस्पर एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करते रहने से समाधान का रास्ता निकलता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—अपनी कहै मेरी सुने, सुनि मिलि एकै होय। अर्थात् अपनी बात कहे, दूसरे की बात सुने और कह-सुन कर जो विवेक पूर्वक हो वैसा काम करे।

दूसरों के मन की रक्षा करके ही उनसे अपनी बात मनवायी जा सकती है, हठ करके नहीं। हठ में समाधान-समझौता संभव ही नहीं है। समझौता के लिए आवश्यक है दूसरों की भावनाओं की कद्र करना। समझौता तभी हो सकता है जब दोनों पक्ष झुकने को तैयार हों।

जब तक अपनी गलती स्वीकार न कर सामने पक्ष को ही दोषी ठहराने का प्रयास होता रहेगा तब तक समझौता नहीं हो सकता। जब हम अपनी गलती स्वीकार कर झुक जाते हैं तब दूसरा पक्ष भी अपनी गलतियों पर विचार करने को मजबूर हो जाता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू, भाई-भाई सबके लिए यही बात है।

. **सहनशीलता**—सहनशीलता का अर्थ है प्रतिकूल व्यवहार पाकर, किसी प्रकार की शारीरिक-आर्थिक हानि होने पर क्षुब्ध-उत्तेजित न होकर शांत रहना। इतना ही नहीं जिनसे प्रतिकूल व्यवहार-अपमान मिला है या जिनके कारण किसी प्रकार की हानि हुई है उनके प्रति मन में वैर-विरोध भाव न रखकर सद्भाव रखना और उनके प्रति हितकामना-हितचिंतन करना। यह तो कभी संभव ही नहीं है कि सबका सब बात-व्यवहार हमारे मन के अनुकूल ही हो, कहीं कुछ प्रतिकूलता आये ही नहीं। दुनिया में एक भी ऐसा व्यक्ति

आज तक नहीं हुआ, जिसके जीवन में कभी कोई प्रतिकूलता न आयी हो। जिन्हें हम संत-सद्गुरु, महापुरुष, भगवान कहते हैं वे भी प्रतिकूलता, अपमान, दुख से नहीं बचे, किंतु वे कभी इनसे घबड़ाये नहीं। सभी प्रकार की प्रतिकूलताओं को निर्विकार भाव से सहन करने वाला ही किसी घर-परिवार, संस्था-समाज, राष्ट्र का ठीक ढंग से नेतृत्व कर सकता है और एक दिन वह सबका प्यारा, श्रद्धेय, पूज्य हो जाता है। छेनी-हथौड़ी की अनगिनत चोट सहकर न टूटने वाला पत्थर ही प्रतिमा बनकर मंदिर में प्रतिष्ठित होता है और पुजा जाता है, टूटकर बिखर जाने वाला पत्थर नहीं।

शांति-सुखपूर्वक जीना है और व्यवहार-परमार्थ का काम करते रहना है तो सहनशील होना ही पड़ेगा। लड़-झगड़कर कौन शांति-सुख से जीवन जी पाया है। ज्यादातर तो अपने माने गये लोगों का ही सहन करना पड़ता है। घर-परिवार के सदस्यों के प्रतिकूल व्यवहार को सहन न किया जाये तो एक साथ घर-परिवार में रहना संभव ही नहीं होगा। सहन न कर लड़ने से तो काम बनेगा नहीं, और बिगड़ जायेगा।

सहनशीलता के लिए निहाई का उदाहरण लिया जा सकता है। लोहार लोहे के औजारों को गरमा कर निहाई पर रखकर पीटता है। उन औजारों का स्वरूप, आकार-प्रकार बदलता रहता है, परंतु हजारों घनों की चोट पड़ने पर भी निहाई एकरस रहती है, उसका स्वरूप नहीं बदलता। इसी प्रकार जो सबकी चोट सहता है, फिर भी घबड़ाता नहीं है, वही सबको आश्रय देता है और उसी के जीवन में चमक आती है।

. **समता**—समता का एक अर्थ है सुख-दुख, हानि-लाभ, सम्मान-अपमान सभी स्थितियों में एकरस-शांत रहना, विचलित न होना और दूसरा अर्थ है छोटे-बड़े, कम-अधिक योग्यता वाले, गुणहीन-गुणवान सभी लोगों के प्रति समान रूप से प्रेमभाव रखना, सबकी आवश्यकता की समान रूप से पूर्ति करते रहना।

एक मां कहती थी कि मेरी तीन बहुएं हैं और तीनों में आपस में सगी बहनों जैसा प्यार है। मुझे जब बहुओं के लिए कपड़े या गहना खरीदना होता है तब तीनों के लिए एक साथ एक जैसा ही खरीदती हूं। इसमें मैं कभी भेदभाव नहीं करती। तीनों बहुओं को मैंने कह दिया है

कि तुम्हारे स्वास्थ्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी हो या मन में किसी प्रकार का विकार या उत्तेजना हो तो भोजन न बनाना। क्योंकि शरीर या मन में कोई गड़बड़ी होने पर उसका प्रभाव भोजन पर पड़ेगा और उसका प्रभाव खाने वालों पर। मेरे इस व्यवहार से तीनों बहुओं का मन प्रसन्न रहता है और घर के सभी सदस्यों का मन-स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। यही समता का व्यवहार है।

घर-परिवार, संस्था-समाज में कोई विशेष प्रतिभा-संपन्न, योग्य, बुद्धिमान एवं परिश्रमी है और उसके द्वारा घर-परिवार, संस्था-समाज को विशेष लाभ हो रहा है, तो निश्चित ही उसे अधिक श्रेय दिया जायेगा, उसकी अधिक प्रशंसा होगी, परंतु यह श्रेय और प्रशंसा इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों की ईर्ष्या का कारण बने और दूसरों की उन्नति में बाधक हो। दूसरी तरफ कोई कम योग्यता का, कम बुद्धि का एवं कम परिश्रम करने वाला है तो उसकी ऐसी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि उसके अंदर हीन भावना उत्पन्न होने लगे। अधिक प्रतिभासंपन्न, योग्य, परिश्रमी को उचित श्रेय देते हुए सबके प्रति बराबर प्रेम व्यवहार होना चाहिए और सबकी आवश्यकताओं पर बराबर ध्यान देते रहना चाहिए तभी घर-परिवार, संस्था-समाज की एकता बनी रहेगी।

. **सहानुभूति**—सहानुभूति का अर्थ है साथ-साथ अनुभव करना, हमदर्दी। कब किसके जीवन में कैसा संकट, दुख-दर्द आ जाये कुछ कहा नहीं जा सकता। किसी भी प्रकार का संकट, दुख-दर्द आने पर आदमी दूसरों का साथ चाहता है। यदि उसके पास बैठकर उसकी बातों को धैर्यपूर्वक प्रेम से सुना जाये तो उसे संतोष मिलता है और यह लगता है कि मैं अकेला नहीं हूं। मेरी विपत्ति में साथ देने वाले लोग हैं। सहानुभूति का अर्थ है पीड़ित व्यक्ति को यह अनुभव कराना कि हम तुम्हारे साथ हैं। इससे उसका आत्मविश्वास बढ़ता है और विपत्ति-दुख-दर्द को झेलने के लिए मानसिक रूप से वह अपने को समर्थ अनुभव करता है तथा घर-परिवार के सदस्यों के प्रति उसका विश्वास एवं प्रेम बढ़ता है।

. **समर्पण**—जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां समर्पण की आवश्यकता न हो। समर्पण का अर्थ है अपने को गौण करके सामने वाले को श्रेय देना, उसका ख्याल रखना। समर्पण के बिना परिवार-समाज

में स्थायित्व आ ही नहीं सकता। जिस परिवार में पति पत्नी के प्रति, पत्नी पति के प्रति, माता-पिता पुत्र के प्रति, पुत्र माता-पिता के प्रति, एक भाई दूसरे भाई के प्रति, सास बहू के प्रति, बहू सास के प्रति, इसी प्रकार अन्य सब एक दूसरे प्रति समर्पित रहते हैं, वहां किसी को किसी अभाव का अनुभव नहीं होता। सबका मन प्रसन्नता से भरा रहता है और ऐसा परिवार-समाज हर दिशा में उन्नति करता चला जाता है।

यहां यह समझना होगा कि बिना समर्पण के प्रेम टिक नहीं सकता है तो बिना प्रेम के समर्पण हो नहीं सकता। जिसके प्रति हमारे मन में अटूट एवं निश्छल प्रेम होता है वहां हम अपने आप समर्पित हो जाते हैं और जहां पूर्ण समर्पण है वहां प्रेम का पूर्ण प्रकटीकरण हो जाता है। और जहां प्रेम एवं समर्पण है वहां किसी प्रकार का दुराव-छिपाव, कलह, विवाद, स्वार्थ-अहंकार रह ही नहीं जाता है। वहां तो रहती है सेवा, कर्तव्यपरायणता, करुणा, एकता, समता और रहती है मन की प्रसन्नता एवं शांति।

—धर्मेन्द्र दास

सद्गुरु वंदना

रचयिता—ज्ञानदास

शरण में अपने, लगा लो गुरुजी,
भटका हुआ मैं, जीव हूँ तुम्हारा
दुनिया में देखा, सुख न कहीं है।
कल्पना जो मन की, वो सच नहीं है
खा करके ठोकर, मिला है किनारा....
राग-द्वेष मोह का, दहकता है गोला।
पल में छुट जाएगा, नाशवान चोला
कल्याण हेतु मानव, जीवन है च्यारा...
धन के लिए ही मैं, समय को गँवाया।
असली कमाई को, समझ नहीं पाया
धोखे में रहकर, बना हूँ गंवारा...
भाग्य उदय जेहि, सद्गुरु को पाना।
परम शांति दाता, दया के निधाना
'ज्ञान' की अभिलाषा, किया पूर्ण सारा....

अपने को परखें

लेखक—देवेन्द्र कुमार

इस संसार में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है क्योंकि प्रकृति ने मनुष्य को दो अद्भुत शक्ति (मन एवं वाणी शक्ति) प्रदान की है। अन्य प्राणियों में इन शक्तियों का अभाव है। लेकिन मनुष्य का इन दोनों शक्तियों पर नियंत्रण न होने के कारण संसार में सबसे ज्यादा दुखी भी मनुष्य ही रहता है। हम हमेशा दूसरे लोगों में ही दोष देखते रहते हैं जबकि सही मायने में हमें अपने दोषों को देखना चाहिए।

हमारे आस-पास परिवार में, समाज में, दफ्तर में या अन्यत्र कहीं भी यदि हमें कोई कुछ अपशब्द या कटुवचन कह देता है तो या तो उसे तुरन्त कड़ी प्रतिक्रिया देते हैं या उससे बदला लेने की भावना रखकर परेशान रहते हैं तथा उस अप्रिय घटना के बारे में सोचकर जलते रहते हैं। लेकिन विवेकी पुरुष अपनी निंदा को आईना के रूप में देखते हैं तथा अपनी गलतियों में सुधार करते हैं।

यदि हम अपने को परखना चाहते हैं तो यह देखें कि किसी के द्वारा नकारात्मक टिप्पणी होने पर हमारे अन्दर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यदि हम अपने बारे में अपशब्द या अपनी निंदा सुनने के बाद कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते हैं तो यह कुछ सीमा तक ठीक है लेकिन यदि हम अपना मन मसोस कर रह जाते हैं और उस घटना या अपने निंदक के बारे में सोचकर हमारे मन में जरा-सी भी हलचल मचती है तो इसका अर्थ है कि अभी हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत अधिक सुधार की आवश्यकता है।

जब हमारे मन में किसी के द्वारा की गई प्रशंसा से या निंदा से किसी प्रकार की कोई हलचल उत्पन्न न हो तो समझिये कि हम सही दिशा में जा रहे हैं और ऐसी स्थिति आती है विवेकी सन्तों के सत्संग से, उनकी रहनी देखकर उनके जीवन से प्रेरणा लेने से तथा सद्ग्रन्थों का अध्ययन करने से।

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं

लेखक—श्री धर्मदास

साधारण मनुष्य कब जन्म लेता है और कब मर जाता है कोई याद तक नहीं रखता। लेकिन जब कोई आम से खास बन जाता है तब लोग उसे याद करने लगते हैं। अधिक लोकप्रिय होने पर कुछ प्रशंसा करते हैं तो कुछ आलोचना या निंदा। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम उछालकर स्वयं भी प्रसिद्ध होने की लालसा पालते हैं।

वर्ष पहले उत्तर भारत के काशी नगर में खासोआम के बीच एक मानव अवतीर्ण हुआ। कब वह आम से खास हो गया, कोई लेखा-जोखा तो ठीक-ठीक नहीं मिलता, पर उसके नाम पर एक कुल परंपरा विख्यात है जिसे कबीरपंथ कहा जाता है। यह जन्मना कुल नहीं है। यह एक आध्यात्मिक कुल-परंपरा है। कुछ भिन्नता के साथ इसमें कुल-मर्यादा का निर्वाह होता है। ऐतिहासिक महापुरुषों में महामना कबीर का स्थान महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी के बाद आता है। कबीर कुल का अधिष्ठाता कबीर हैं। विवेचना करने से ज्ञात होता है कि महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं हैं क्योंकि उनसे पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे और उनकी गिनती चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में की जाती है। बुद्ध और महावीर का नाम लेने में भिन्न मान्यता के लोग साम्प्रदायिक कहलाने के भय से संकोच करते हैं। इसके विपरीत लगभग सभी धर्म-मान्यताओं के प्रवक्ता-प्रचारक कबीर की पंक्तियों को उद्धृत करके अपनी बातों में प्रामाणिकता की मोहर लगाते हैं। मंदिरों में कबीर-भजन गाये बिना भजन-कार्यक्रम पूर्णता प्राप्त नहीं करता।

कबीर की लोकप्रियता में अनवरत वृद्धि हो रही है। उनके विचारों पर शोध हो रहे हैं जिनमें देशी कम विदेशी अधिक रुचि रखते हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कबीर के प्रसंगों पर आधारित बहस वाद-विवाद के मंचों पर अथवा साहित्य रचना में चले। कुल परंपरा के बाहर के प्रसिद्ध साहित्यकारों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, क्षितिमोहन सेन, परशुराम चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद

द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामकुमार वर्मा की रचनाओं से कबीर साहित्य समृद्ध हुआ तो प्रोफेसर वासुदेव सिंह, प्रो. शुकदेव सिंह, जयदेव सिंह, प्रभाकर श्रोत्रिय, रघुवंश, परमानन्द श्रीवास्तव जैसे लेखकों ने कबीर विचारधारा को प्रशस्त किया।

पुराने समय में शास्त्रार्थ हुआ करता था जिसके अंतर्गत विभिन्न धर्ममत के आचार्य अपने-अपने सैद्धान्तिक पक्षों पर जोरदार बहस किया करते थे। प्रसिद्ध है कि स्वामी शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ करके बौद्धों को हराया। शंकराचार्य ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया परन्तु उनकी पत्नी ने शंकराचार्य को पराजित कर दिया। संत कबीर आदिपुरुष हैं जिन्होंने सत्संग करने की परंपरा का आरम्भ किया। उनकी प्रामाणिक रचना बीजक से ज्ञात होता है कि वे पंडितों, अवधूतों, हठयोगियों तथा साधु-संतों के बीच गये और अपने विचारों को प्रस्तुत किये। सत्संग का शाब्दिक अर्थ है सच का साथ; सच की व्याख्या; सत्य के मार्ग पर चलना और सत्पथ पर चलने के लिए प्रेरित करना तथा सच-झूठ में फर्क करने का विवेक विकसित करना। संत कबीर के जीवन के अनेक अनसुलझे अथवा उलझे पहलू हैं जिन पर संवाद की जरूरत है। कुछ ऐसे भी विषय हैं जिन पर संत कबीर को माननेवालों में भी मतभेद हैं। ऐसे ही कुछ विषयों को उठाने की यहां इच्छा है—

(क) हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं

(ख) कबीर : भक्त अथवा भगवान

(ग) कबीर और जाने नहीं, एक रामनाम की आस

(क) हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं

संत कबीर कहते हैं—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।

पाँच तत्त्व का पूतरा, गैबी खेलै माँहि

“मैं हिन्दू नहीं हूँ लेकिन मुसलमान भी नहीं हूँ। पांच तत्त्वों के संयोग से बना यह मानव शरीर है जिसके भीतर एक गैबी सत्ता अपना खेल करता है। मैं वही हूँ।” जिसे जानने के लिए लोग पूछा करते हैं ‘तुम कौन हो?’—आज भी पूछते हैं, और कबीर के जमाने में यह प्रश्न अधिक पूछा जाता रहा होगा। प्रश्न का अभिप्राय समझकर लोग उत्तर देते हैं, मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान। ‘हिन्दू’ कह देने मात्र से पूछने वाला संतुष्ट नहीं होता। अभीष्ट उत्तर के लिए अनेक प्रश्न करता है, जब तक कि ‘ब्राह्मण’, ‘तेली’, ‘यादव’, ‘राजपूत’ नहीं सुन लेता। परन्तु कबीर ऐसे पहुंचे हुए हैं कि अपनी जाति का परिचय ‘पांच तत्त्व का पूतरा, गैबी खेलै माँहि’ कहकर देते हैं। सुनने वाला घनचक्कर में पड़ जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ‘कबीर’ (पृ.) में लिखते हैं—“सबसे पहले लगने वाली बात यह है कि कबीरदास ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा है। वे बराबर अपने को ना-हिन्दू-ना-मुसलमान कहते रहे। आध्यात्मिक पक्ष में निस्संदेह यह बहुत ऊंचा भाव है, पर कबीरदास ने कुछ इस ढंग से अपने को उभय-विशेष बताया है कि कभी-कभी यह संदेह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्य की ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयनजीवी (बुनकर) नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियों की जाति सचमुच ही ‘न हिन्दू न मुसलमान’ थी।” आचार्य द्विवेदी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है—

कबीर ने अपने को उभय-विशेष बताया जिससे सामाजिक तथ्य की ओर इशारा कर रहे हैं कि उन दिनों बुनकर लोग अपने को नाथपंथी योगी जाति मानते थे। परन्तु आचार्य द्विवेदी असमंजस और बढ़ा देते हैं जब उसी पृष्ठ पर लिखते हैं, “कबीरदास ने कम-से-कम एक पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिन्दू और हैं, मुसलमान और हैं और योगी और हैं, क्योंकि योगी या जोगी ‘गोरख-गोरख’ करता है, हिन्दू ‘राम-राम’ उच्चारता है और मुसलमान ‘खुदा-खुदा’ कहा करता

है।” असमंजस इस बात से बढ़ती है कि हिन्दू ‘राम-राम’ उच्चारता है क्योंकि संत कबीर ने अपनी प्रामाणिक रचना बीजक में लिखा है—‘राम नाम जाने बिना, भौ बूड़ि मुवा संसार (रमैनी, साखी-)’; ‘कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस (रमैनी, साखी-)।’ इस सिद्धान्त के आधार पर संत कबीर भी हिन्दू उठरते हैं। यह भ्रम उत्पन्न नहीं होता अगर द्विवेदी जी पाद-टिप्पणी- में उद्धृत पद की पहली पंक्ति के अर्थ के साथ दूसरी पंक्ति की शेष आधी पंक्ति—‘कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यो समाई’—का अर्थ भी वहीं कर दिये होते।

वे दो पंक्तियां द्विवेदी जी ने कबीर ग्रन्थावली से ली है, जो इस प्रकार हैं—

जोगी गोरख गोरख करै। हिन्दू राम नाम उच्चरै
मुसलमान कहै एक खुदाई।
कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यो समाई

संत कबीर की उद्घोषणा ‘न हिन्दू, न मुसलमान’ विषय पर बहस बढ़ाने से पहले हिन्दू धर्म या हिन्दुत्व की प्राचीनता की खोजबीन होना अपेक्षित है।

भारतवर्ष के इतिहास के निर्माण में जिन चार स्रोतों को स्वीकार किया गया है वे हैं—धर्मग्रन्थ, इतिहास-पुरातत्त्व, तत्कालीन साहित्य तथा विदेशियों के विवरण। धर्मग्रन्थों में ब्राह्मण धर्मग्रन्थ, बौद्ध धर्मग्रन्थ और जैन धर्मग्रन्थ प्रमुख हैं। ब्राह्मण धर्मग्रन्थों के अंतर्गत चार वेद (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद), आरण्यक (ऐतरेय, शांखायन, तैत्तरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन, बृहदारण्यक एवं तल्वकार), उपनिषद् (ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतिकी), तथा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद एवं ज्योतिष) है। इन प्राचीन धर्मग्रन्थों में हिन्दू, हिन्दू धर्म या हिन्दुत्व शब्द नहीं पाये जाते। जब धर्मग्रन्थ ‘हिन्दू’ शब्द को नहीं जानते तो हिन्दू धर्म का अस्तित्व संभव कैसे? महात्मा बुद्ध के बाद मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ बने। इन्हें भी ब्राह्मण ग्रन्थों में गिना

जाता है। इनमें भी 'हिन्दू धर्म' शब्द नहीं है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षिगण एकत्र हुए और ब्रह्मा जी से बोले—रावण नामक राक्षस को आपने प्रसन्न होकर वर दे दिया है, उसने तीनों लोकों के प्राणियों का नाकों दम कर रखा है; ऋषियों, यक्षों, गंधर्वों, असुरों तथा ब्राह्मणों को पीड़ा देता है और अपमान करता है। उसी समय भगवान विष्णु भी गरुड़ पर सवार हो वहां आ पहुंचे। समस्त देवताओं ने स्तुति कर उनसे कहा—आप अपने चार स्वरूप बनाकर राजा दशरथ की तीनों रानियों के गर्भ से पुत्र रूप में प्रकट होकर रावण को मार डालिए। इस प्रसंग में देवताओं ने ब्रह्मा एवं विष्णु—जो हिन्दू धर्म के (त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश) दो प्रमुख भगवान हैं—से यह शिकायत नहीं किये कि रावण अहिन्दू है और वह हम हिन्दू धर्मों को सताता है। इस प्रसंग से विदित होता है कि रावण ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए तप किया था और उन्होंने वर दे दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि देवताओं के भगवान ब्रह्मा रावण के भी भगवान थे। अर्थात् उस काल में भगवान और मनुष्य किसी धर्म के नाम से पृथक खेमा में बंटे नहीं थे।

महाभारत (शांति पर्व, सातवां अध्याय) में युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा—आप किस धर्म की शाखा को अत्यंत उत्तम मानते हैं? भीष्म जी बोले—मैं तो माता-पिता तथा गुरु की सेवा को सर्वोत्तम धर्म मानता हूं। इस प्रसंग में कहीं भी हिन्दू धर्म की कोई चर्चा नहीं मिलती। मनु द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र में भी हिन्दू धर्म की चर्चा नहीं है। डॉ. ब्यूहलर मानते हैं कि मनुस्मृति के श्लोक (समग्र ग्रंथ का दशमांश) महाभारत में पाये जाते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार महाभारत का शुंगकाल (ईसा पूर्व द्वितीय शती) तथा गुप्त काल (ईसा के बाद चौथी शती) में कई संस्करण संभावित है

- . बालकांड, सर्ग पंचदश, श्लोक (-)।
- . वही, (-)।
- . महाभारत मीमांसा, संत श्री अभिलाष साहेब, पृ.

(भारत सावित्री, पृ.)। महाभारत में कृष्णभक्ति, विष्णुभक्ति एवं शिवभक्ति के अनेक प्रसंग हैं परन्तु हिन्दू धर्म का उल्लेख नहीं है। इससे विदित होता है कि गुप्तकाल तक जितने भी धर्ममत विकसित हुए—कृष्ण एवं शिव की भक्ति तथा देवी (दुर्गा) की पूजा आदि—महाभारत में उन सब की चर्चा हुई। दोनों महाकाव्यों में श्रमण धर्म—जैन, बौद्ध, आजीवक—के अतिरिक्त नास्तिक-चार्वाक तक के निंदात्मक स्वर पाये जाते हैं लेकिन हिन्दू धर्म के नाम कहीं नहीं पाये जाते।

उपर्युक्त विवरण का निष्कर्ष स्पष्ट है कि जिन धार्मिक ग्रंथों को आज हम हिन्दू धर्मग्रंथ की संज्ञा देते हैं उन्हीं ग्रंथों में 'हिन्दू धर्म' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं है। अतएव 'हिन्दू धर्म' का नामकरण अवैदिक अवधारणा है।

बौद्ध एवं जैन धर्मग्रंथों से ज्ञात होता है कि बुद्ध काल में जिन धर्माचार्यों की प्रसिद्धि थी, वे थे—पूरण कस्सप, मक्खलिपुत्त गोसाल, अजितकेस कम्बलि, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्टिपुत्त, निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर स्वामी)। इन सबके अलग-अलग धर्ममत थे। अन्य धर्म प्रचारक भी थे जैसे—निग्रोध, वच्छगोत, कुण्डल्लिए, अजितो, वरधारो। बौद्ध ग्रन्थ उस समय प्रचलित मतों का उल्लेख करते हैं। परन्तु उनमें हिन्दू धर्म का नाम नहीं आया है।

“जैन साहित्य में चार सम्प्रदायों को विशेष महत्त्व दिया गया है—() क्रियावादी, () अक्रियावादी, () अज्ञानवादी, () विनयवादी। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य चण्डिदेवग, भूयकम्पिय, धम्मचिन्तक, पिण्डोलग, वारिखल, वाणीमग आदि अनेकानेक अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख करता है। देश में घूमने वाले सक्क श्रमणों, आजीविय श्रमणों तथा ऐसे अन्य बहुसंख्यक श्रमणों का वर्णन मिलता है। फिर इन श्रमणों में भी अनेकानेक उपकोटियां थीं।” बौद्ध एवं

- . प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ.
- . प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ.

जैन धर्मग्रन्थों में नाना सम्प्रदायों का विवरण मिलता है परन्तु उनमें 'हिन्दू सम्प्रदाय' का उल्लेख नहीं मिलता है।

एस. एन. दासगुप्त लिखते हैं—“पाली विधि ग्रन्थ निद्देश में विभिन्न अन्धविश्वासी धार्मिक सम्प्रदायों का प्रसंग है जिनमें वासुदेव का अनुसरण करने वाले बलदेव, पुण्यभद्र, मणिभद्र, अग्नि, नाग, सुपर्णा, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महाराज, चंड, सुरीय, इन्द्र, ब्रह्मा, श्वान, काक, गाय आदि का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्देश के नियमबद्ध किये जाने के समय वासुदेव पूजा प्रचलित थी परन्तु हिन्दू धर्म का वजूद उस समय नहीं था। एस. एन. दासगुप्त के अनुसार मेगास्थनीज का 'मेथोरा' मथुरा है, 'जोराबीज' यमुना नदी है। तथा हेराक्लीज की पूजा भगवान हरि की पूजा से ही है। परन्तु मेगास्थनीज ने यह नहीं लिखा है कि हेराक्लीज या वासुदेव एवं हरि के उपासकों की जाति हिन्दू है अथवा उनका धर्म 'हिन्दू-धर्म' कहलाता है।

गुप्तकाल तक के किसी वैदिक धर्मग्रन्थ में 'हिन्दू-धर्म' का नाम नहीं मिलता है। अतएव 'हिन्दू' शब्द का इतिहास जानना जरूरी लगता है।

हिन्दू शब्द की उत्पत्ति :

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'उर्दू-हिन्दी शब्दकोश' में 'हिन्द', 'हिन्दी', 'हिन्दुस्तां', 'हिन्दुस्तान', 'हिन्दुस्तानी' तथा 'हिन्दू'—सभी को फारसी भाषा के शब्द बताये गये हैं। हिन्द का अर्थ भारत, हिन्दुस्तान; हिन्दी का अर्थ देवनागरी भाषा, हिन्दुस्तां एवं हिन्दुस्तान—भारतवर्ष, इण्डिया तथा हिन्दुस्तानी का अर्थ भारत का निवासी किया गया है। हिन्दू का अर्थ किया गया है—हिन्दुस्तान का वह व्यक्ति जो मूर्तिपूजा करता है और वैदिक धर्मावलम्बी है।

'मध्यकालीन भारत में हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से अपने निबंध में कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं

- . भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग- , पृ.
- . भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग- , पृ.

कि "हिन्दी", 'हिन्द', 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तान' शब्दों का अर्थ भारत के उत्तर-पश्चिम में प्रवहमान सिन्धु नदी से सम्बन्धित है। जैसा कि हम जानते हैं, भारत में आने वाले अधिकांश विदेशी यात्री और आक्रमणकारी उत्तर-पश्चिम द्वार से ही भारत आये। अतः भारत में आने वाले इन विदेशियों ने जिस देश के दर्शन किये वह 'सिन्धु' का देश था। ईरान के साथ भारत के बहुत प्राचीन काल से ही संबंध थे और ईरानी 'सिन्धु' को 'हिन्दु' कहते थे। 'हिन्दु' से 'हिन्द' बना और फिर 'हिन्द' फारसी भाषा के 'ईक' लगाने से 'हिन्दीक' बन गया। संज्ञा के रूप में 'हिन्दीक' का अर्थ है 'हिन्द का'। भाषा में इस शब्द का संज्ञा के रूप में प्रयोग किया गया और हिन्द की भाषा 'हिन्दी' कही जाने लगी। - में शर्फुद्दीन द्वारा लिखित 'जफरनामा' में हिन्दी शब्द का पहली बार उपयोग किया।”

प्रख्यात इतिहासकार प्रोफेसर डी. एन. झा लिखते हैं—“Infact ancient indians never described themselves as 'Hindus'. First used by the Arbs and later by others, the term 'Hindu' stood for the inhabitants of al-Hind (India). Foreign to early Indian literature, this name passed into Indian nomenclature much later.” (Ancient India, By D.N. Jha, page 4)

'वस्तुतः प्राचीन भारतवासियों ने अपने को कभी भी 'हिन्दू' नाम से संबोधित नहीं किया। सर्वप्रथम अरबों ने प्रयोग किया और बाद में दूसरों ने भी, 'हिन्दू' शब्द अल-हिन्द (भारत) के निवासी माना जाने लगा। प्राचीन भारतीय साहित्य के लिए अपरिचित यह नाम बहुत आगे चलकर भारतीय नाम पद्धति में प्रचलित हुआ।'

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यह निष्कर्ष युक्तिसंगत होगा कि सिन्धु नदी के इस पार रहने वालों (भारतवर्ष एवं पाकिस्तान), चाहे वे किसी भी धार्मिक विचार के अनुयायी थे, को हिन्दू कहा गया था। लेकिन ईसाई एवं

- . मध्यकालीन भारत, सं. हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ.

मुसलमान हिन्दू जाति में गिने नहीं जा सकते थे क्योंकि इन दोनों का अस्तित्व भारतीय उपमहाद्वीप में तब था ही नहीं। रोमिला थापर ने लिखा है कि—“अरबों-तुर्कों के आगमन के पश्चात् जो भारत उपमहाद्वीप के निवासियों को मुख्यतः हिन्दू कहकर पुकारते थे—वैष्णव और शैव दोनों मतानुयायियों को हिन्दू कहा जाने लगा। (इस उपमहाद्वीप के लिए अरबी नाम—‘अल-हिन्द’ यूनानी ‘इंडस’ और फारसी ‘सिन्धु’ से निकला है)। इस प्रकार वे अपने इस्लाम धर्म के अनुयायियों के और इन गैर-इस्लामी मतवालों के बीच भेद करते थे। यह नाम चलता रहा और अब यह इस महाद्वीप के ब्राह्मणधर्म से संबद्ध हो गया। अरब और तुर्क हिन्दुओं तथा बौद्धों, जैनों आदि में भेद करते थे, परन्तु यह भेद अस्पष्ट था, और बौद्ध तथा जैनों का शनैः-शनैः हास होने से इस शब्द का प्रयोग केवल वैष्णवों और शैवों के लिए होने लगा जो ब्राह्मण-धर्म के दो प्रमुख मत थे।

संत कबीर वीं शताब्दी के हैं अतः उनका युग आते-आते पूरे भारतवर्ष पर मुसलमानी शासन दृढ़ हो चुका था तथा राज्यधर्म इस्लाम बन चुका था। इसलिए सल्तनत के दस्तावेजों में दो कौमों दर्ज होती थीं या तो मुसलमान या हिन्दू—जो गैर-मुसलमान थे और उन्हें जजिया कर चुकाना पड़ता था। कबीर की वाणियों के अध्ययन से पता चलता है कि संत कबीर ने ‘वैष्णव’, ‘शैव’, ‘योगी’, ‘अवधूत’, ‘जैन’, ‘बौद्ध’, ‘जादू-टोना’ एवं ‘तान्त्रिक’ आदि मतों के बारे में अपने विचार दिये हैं। यहां तक कि ‘ॐकार’, ‘तत्त्वमसी’ ‘द्वैत-अद्वैत’, ‘षट्दर्शन’, ‘वेद’, ‘उपनिषद्’, ‘स्मृति’, ‘पुराणादि’ के सूक्ष्म भेदों को भी अपने विचारों के अनुरूप मूल्यांकन किया है। लेकिन सामाजिक नजरिया से अवाम को केवल दो जमाअतों (वर्गों)—एक मुसलमान तथा दूसरा हिन्दू (या गैर-मुसलमान)—का नाम लिया है। उन्होंने अपने को दोनों सम्प्रदायों से अलग होने की घोषणा की है। अर्थात् उन्होंने एक तीसरे समाज के सृजन का संदेश दिया इसीलिए उनको मानने वाले हिन्दू

. भारत का इतिहास, रोमिला थापर, पृ. ।

हों या मुसलमान अपने को (कबीर के नाम पर) कबीरपंथी कहते हैं। सल्तनत काल के दस्तावेजों में ‘हिन्दू’ कौम या मुसलमान कौम अंकित होते थे। अतएव साधारणतया कबीरपंथियों की कौम भी जनगणना में हिन्दू कॉलम के अन्तर्गत दर्ज होती रही। ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत सन् से जनगणना आरम्भ हो गयी थी। प्रत्येक दस वर्षों के पश्चात् जनगणना रिपोर्ट प्रकाशित की जाती थी। सामाजिक जीवन की जानकारी के लिए धर्म पर आधारित जनगणना में एक कालम (स्तंभ) के नीचे तीन उपशीर्षक हुआ करते थे—() मुस्लिम () हिन्दू () ईसाई। जनगणना आयुक्त ने की जनगणना में हिन्दुओं को तीन अलग श्रेणियों में बांट दिया—() हिन्दू, () प्रकृतिपूजक तथा जनजातीय और () अछूत। इससे भी स्पष्ट होता है कि मुसलमानी काल में प्रयुक्त मुसलमान और गैर-मुसलमान (हिन्दू) गणना की प्रचलित प्रथा को ब्रिटिश राज में भी चालू रखा गया था।

सबसे पहले कबीर की विचारधारा पर प्रकाश डालने वाली कुछ रचनाओं पर नजर डाल लेना चाहिए जिससे प्रस्तुत विषय की पृष्ठभूमि समझना आसान हो।

बिलकुल सच है कि जैसे कबीर ने बार-बार कहा कि ‘मैं जुलाहा हूँ’ वैसे ही रैदास ने कहा ‘मैं चमार हूँ’। जुलाहा एवं चमार दो व्यवसायों का परिचय कराता है। कपड़ा बुनने का कार्य जो करता है वह जुलाहा है तथा जो चमड़ा का जूता मरम्मत या बनाने का काम करता है वह चमार है। इन दोनों धंधों को करने वाले लोग ईसाई भी हैं, मुसलमान भी और यहूदी भी। बौद्ध धर्मावलंबी देश चीन, जापान, कोरिया, कंबोडिया, म्यांमार (बर्मा), श्रीलंका, थाईलैण्ड आदि देशों में भी जूता बनाने एवं मरम्मत करने का काम और कपड़ा बुनने का काम करने वाले लोग हैं। उसी प्रकार यूरोपीय ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी—जो ईसाई बहुल हैं या मिस्र, सउदी अरब, दुबई, तुर्की, ईरान मुसलमान देशों में क्रमशः ईसाई एवं मुसलमान इन दोनों धंधों को किया करते हैं परन्तु वे चमार या जुलाहा नहीं कहलाते।

कबीर कहते हैं—

हिन्दू मुआ राम कहि, मुसलमान खुदाइ।

कहैं कबीर सो जीवता, जो दुहुँ कै निकटि न जाइ

(, कबीर : पारसनाथ तिवारी)

उपर्युक्त पद का भावार्थ होगा—हिन्दू जब तक जीता है 'राम-राम' कहता है और मुसलमान 'खुदा-खुदा'। लेकिन जो कबीर के कहा मानकर जीता है वह उन दोनों (हिन्दू एवं मुसलमान) के निकट नहीं जाता है। इसका तात्पर्य कोई यह लगाने की भूल न करे कि जैसे हिन्दू 'रामनाम' जप अथवा मुसलमान 'या खुदा-या मौला' का गोहार लगाते हैं उसी प्रकार कबीर को मानने वाले भी 'कबीर-कबीर' का रट लगाते हैं क्योंकि संत कबीर ने ऐसे जाप को निरर्थक माना है।

राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा।

पावक कहै पाँव जो डाहै, जल कहै तृषा बुझाई।

भोजन कहै भूख जो भाजै, तो दुनिया तरि जाई

(बी. श. / -)

अर्थ सरल है फिर भी उन्होंने और स्पष्ट करके कहा है—

बिनु देखे बिनु अर्स-पर्स बिनु, नाम लिये क्या होई।

धन के कहै धनिक जो होवै, निर्धन रहे न कोई

(वही, पंक्ति, ,)

'कहैं कबीर सो जीवता' का अर्थ कुछ लोग लगा सकते हैं कि उन्होंने अपनी तुलना 'राम' और 'खुदा' से की है लेकिन बीजक ग्रंथ के दो प्रसंग इस धारणा को झूठा साबित करते हैं। प्रथम आरम्भ कौन को भयऊ। दूसरा प्रगट कीन्ह सो टयऊ (बीजक, रमैनी /) सबसे पहले संसार में किसकी रचना हुई? 'जब कुछ कहीं था ही नहीं तो सृष्टिकर्ता किस जगह पर टिका था। जब संसार-निर्माण का कार्य आरम्भ किया था? ये प्रश्न सभी ईश्वरवादी धर्म दर्शनों के सामने रखे गये जिनके-जिनके एक सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं जिसके द्वारा सृष्टि की कल्पना की गयी है। कबीर के प्रश्नों का अंत नहीं है। आगे पूछते हैं—“वर्णहु कौन रूप औ रेखा, दूसर कौन

आहि जो देखा (बी. र. /)”—तुम्हारे ईश्वर किस रूप और लक्षण के हैं? (ईश्वरवादी दर्शनाचार्य से) पूछते हैं कि तुम्हारे दही में सही करने वाला, यानी तसदीक (attesting) करने वाला दूसरा कोई है भी या नहीं? 'तहिया होते पवन नहिं पानी, तहिया सृष्टि कौन उत्पानी' (बी.र. /)—उस समय हवा और पानी नहीं थे तो सृष्टि किसने उत्पन्न की? 'तहिया होते पिण्ड नहिं बासू, नहिं धर धरणि न पवन अकासू' (बी. र. /)—न तो तब शरीर था और न शरीर में निवास करने वाला जीव; उस समय न तो पर्वत थे न पृथ्वी, न हवा थी और न आकाश? ईश्वरवादी दर्शनों पर ढेरों प्रश्नचिह्न लगाने वाले संत कबीर की तुलना खुदा या राम से वही व्यक्ति कर सकता है जो कहता है बिना मिट्टी, पानी और चाक के कुम्हार ने बर्तन गढ़ दिये।

—क्रमशः

ग़ज़ल

रचयिता—धर्मेन्द्र मौर्य 'अकिंचन'

जीवन में सदज्ञान को बोता चला जा।

सारे कलि-मल पाप को धोता चला जा।

बस स्वार्थ के साथी सभी इस जिन्दगी में,
संघर्षरत हो तू यहाँ जीता चला जा।

हर अश्रु को अपना बनाना सीख ले,
मानकर गुरु की कृपा पीता चला जा।

जीवन के हर मोड़ पर बस घाव हैं,
हृदय से लगाकर प्यार से सीता चला जा!

आज दुख फिर सुख इसी को तू समझ ले,
ये जीवन का गीत है गाता चला जा।

कौन किसका है अभी से सोच ले,
ये न हो कि सिर्फ तू रोता चला जा।

मात, सुत, पत्नी, पिता सम्बन्ध सब,
फ़र्ज 'अकिंचन' मान निभाता चला जा।

लाओत्जे क्या कहते हैं?

. खालीपन के महत्त्व को समझें

1. *Thirty spokes surround the hub:
In their nothingness consists the carriage's effectiveness.
One hollows the clay and shapes it into pots:
In its nothingness consists the pot's effectiveness.
One cuts out doors and windows to make the chamber:
In their nothingness consists the chamber's effectiveness.*
2. *Therefore : what exists serves for possession. What does not exist serves for effectiveness.*

अनुवाद

- . तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं, उनके बीच का खाली आकाश ही गाड़ी को उपयोगी बनाता है। मिट्टी को खोखला करके उसे पात्र के रूप में आकार दिया जाता है, उसके अवकाश में ही पात्र की उपयोगिता है। दरवाजे और खिड़की को काटकर कक्ष बनाया जाता है, उसके भीतर के शून्य में ही कमरे की उपयोगिता है।
 - . अतएव, जो दिखता है, वह धारण करता है। जो नहीं दिखता वह इसे उपयोगी बनाता है।
- भावार्थ—** . तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं। उनके बीच के शून्य स्थान में ही धुरा रहकर गाड़ी को चलाता है। अतः शून्य ही उसे उपयोगी बनाता है। मिट्टी को पानी में सानकर उसे ठोंक-पीटकर घड़ा का आकार

दिया जाता है, परंतु उसके भीतर का शून्य स्थान ही घड़ा को उपयोगी बनाता है। दीवार तथा छत बनाकर और दरवाजा-खिड़की काटकर घर बनाया जाता है, परंतु उसके भीतर की खाली जगह ही उसे उपयोगी बनाती है।

. अतएव जो दिखता है, वह धारण करता है, और उसमें रहा हुआ शून्य उसे उपयोगी बनाता है।

भाष्य—तीस तीलियां नाभि को घेरती हैं। उनके बीच का खाली आकाश ही गाड़ी को उपयोगी बनाता है। यह सर्वसाधारण अनुभव है। नाभि और वलय (परिधि) के बीच में तिरछी तीलियां लगी रहती हैं जो पहिये को शक्तिशाली बनाती हैं। नाभि में शून्य होता है। उसी में धुरा होता है जो गाड़ी में कसा होता है। नाभि के बीच की शून्य जगह ही गाड़ी को गति देने में उपयोगी होती है। इसी प्रकार मिट्टी या धातु से बने घड़े या अन्य बरतन में जो खाली जगह है उसी में जल तथा अन्य पदार्थ रखे जाते हैं। इसी प्रकार मकान की खाली जगह में मनुष्य रहते हैं। मकान तो दीवार और छत हैं। उनमें कोई नहीं रह सकता, अपितु जो उसमें खाली जगह है, शून्य है, उसी में मनुष्य रहता है।

अतएव जो दिखता है वह धारण करता है और जो नहीं दिखता है, अर्थात् शून्य है, वह इसे उपयोगी बनाता है। संत लाओत्जे यह कहकर जीवन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों को सामने रखते हैं। वे कहते हैं कि सकारात्मक ही नहीं नकारात्मक पक्ष भी उपयोगी होता है। अनुकूल लोगों से हमें सहयोग मिलता है और प्रतिकूल लोगों की आलोचना और विरोध से भी हमारे जीवन में सीख मिलती है।

अनुकूलता प्यारी लगती है। अनुकूलता ही में लंबे समय तक काम किया जा सकता है। परंतु प्रतिकूल व्यक्ति और परिस्थिति से हमें आत्म-निरीक्षण करने का अवसर मिलता है। केवल अनुकूलता में रहने वाला

मनुष्य पूरा नहीं सुधर सकता। बीच-बीच में प्रतिकूलता की ठोकरें हमारी आंखें खोलती हैं। बहुत दिन की साधना से जो बंधन नहीं कटता, वह प्रतिकूलता के एक झटके में टूट जाता है। अतएव हमें अपने विरोधी से घबराना नहीं चाहिए। इसी तरह प्रतिकूल परिस्थितियों से भी नहीं घबराना चाहिए। सद्गुरु कबीर ने इसी स्थिति की बात कही है, “निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिनु पानी बिनु साबुन, निर्मल करे सुभाय।” माताएं तो बच्चों का मल हाथ से धोती हैं, किंतु निंदक हमारा मल अपने मुंह से धोता है।

नाभि का खालीपन गाड़ी को चलाता है, बरतन का खालीपन वस्तु रखने का स्थान देता है और मकान का खालीपन मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को निवास देता है। इसी प्रकार हमारे मन का खालीपन परम शांति देता है। अंतिम साधना है मन को एकदम खाली कर देना।

हमने अनादिकाल से अपने मन में संसार के पदार्थों का लालच-लोभ भर रखा है, नाना वासनाएं तथा राग-द्वेष का विकार जमा कर रखा है। अब आवश्यक यह है कि इन्हें मन से निकाल फेंकें, और नया कुछ न भरें। शुभ वासना रखकर अशुभ वासना का त्याग करें और अंततः शुभाशुभ सभी वासनाओं का त्याग करें।

कुछ न सोचना ही सहज समाधि है। यही निर्विकल्प समाधि है और यही असंप्रज्ञात समाधि है। अतएव मन को एकदम खाली कर देना जीवन की महान उपलब्धि है। यह दीर्घकाल की साधना से होता है। वे धन्य हैं जिनका मन खाली रहता है। सद्गुरु कबीर ने इसी लक्ष्य को लेकर कहा है, “यदि जगत में जीने की कला जानते हो और जीव को—आत्मा को जानते हो, तो अपने पीये हुए पानी को पचा दो तथा आगे पुनः पानी मांगकर मत पीयो।” इसका अभिप्राय यह है कि यदि तुम अपने आत्मतत्त्व के निरालेपन को जानते हो और यह जीवन किस दशा में सार्थक होगा,

जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।

पानि पचावहु आपना, तो पानी माँगि न पीव

(बीजक, साखी)

यह जानते हो तो, ग्रहण की हुई पुरानी वासनाओं को नष्ट कर दो और आगे कोई वासना न ग्रहण करो।

न परमात्मा पाना है और न मोक्ष पाना है, किंतु आज तक जो कुछ पा रखा है, उसे पूरा खो देना है। फिर सब कुछ छोड़ देने के बाद स्वयं मुक्तरूप परमात्मा है। स्वरूपबोध हो गया और मन वासनाहीन, खाली हो गया, बस बेड़ा पार, सदैव कृतार्थ स्वरूप है।

हमें अपने स्वरूप का ठीक से बोध न होने से हम बाहर भोग और भगवान से तृप्ति पाने की आशा रखते हैं, और इसी आशा में लगी नाना वासनाएं मन में भरते रहते हैं और मृगतृष्णा में भटकते रहते हैं। भोग दृश्यमान जड़-पदार्थ है जो क्षण-क्षण नाशवान और वासना बनाकर छूट जाने वाला है। भगवान मन की कल्पना है, जो कभी मिलने की वस्तु नहीं।

जब हमें पक्का बोध हो जाता है कि हमारा ‘स्व’ पूर्ण है, हमें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। इस बोध के बल से जब हम मन को खाली कर देते हैं, सारी वासनाएं-तृष्णाएं निकाल फेंकते हैं, तब स्वयं तृप्त शेष रह जाते हैं, जो शाश्वत स्थिति है। अतएव कल्याण-इच्छुक को चाहिए कि वह विवेकी सद्गुरु से अपने स्वरूप को ठीक से जाने और पीछे अपने मन की सारी वासनाओं को निकालकर उसे खाली कर दे, फिर जीवन्मुक्ति सुख का उपभोग करे।

यह भय कि आज की अनुकूलता कल न रहेगी तो क्या होगा, केवल अज्ञान और मूर्खता है। ऐसा भी हो सकता है कि आज की अपेक्षा कल अधिक अनुकूलता मिल जाये और यदि आज की अपेक्षा कल अधिक दुख-प्रतिकूलता आ जाये तो उसको सहने की शक्ति तथा उससे बचने की युक्ति भी कल मिल जायेगी। तब कल की चिंता में आज को व्यर्थ नष्ट क्यों कर रहे हो। आज का सदुपयोग करो। कल का जन्म आज के गर्भ से ही होगा। आज को सबल बनाओ, कल अपने आप सबल बनेगा।

—संत वाणी

आदमी

लेखक—बरसाईत दास महंत, 'व्याख्याता'

एक आदमी ने मुझसे प्रश्न किया कि—
आदमी अधिकतर कुत्ता या बिल्ली
क्यों पालता है?
यह प्रश्न मेरे मन को बहुत सालता है।
मैंने उत्तर दिया—
क्योंकि आदमी का स्वभाव
कुत्ते और बिल्ली के स्वभाव से
बहुत मेल खाता है।
इसीलिए कुत्ता या बिल्ली
उसे अधिक पसंद आता है।
उसने पूछा—वो कैसे?
मैंने कहा—ठीक वैसे,
जैसे कुत्ते और बिल्ली को
तुम कितना भी खीर-पूड़ी खिलाओ,
दूध पिलाओ,
साबुन से नहलाओ,
मखमल के गद्दे पर सुलाओ,
वह मांस खाना और गंदी जगह पर
बैठना नहीं छोड़ता।
उसी प्रकार आदमी को भी
तुम कितना भी मेवा-मिष्ठान्न खिलाओ
घी-दूध पिलाओ,
तंबाकू-गुटखा पर मुंह मारना नहीं छोड़ता।
गंदी जगह पर जाना,
और गलत काम करना नहीं छोड़ता।
उसे तुम लाख समझाओ,
पोथी-पुराण सुनाओ,
उस पर कोई असर नहीं होता।

उसने अगला प्रश्न किया—
लोग कहते हैं कि—
कुत्ता ईमानदार जानवर है,
क्या यह बात सही है?
मैंने उत्तर दिया—नहीं,
यह बात सही बिल्कुल नहीं है।
कुत्ता वफादार जानवर हो सकता है
पर ईमानदार नहीं।
क्योंकि वह चोर से ज्यादा
सज्जन को भौंकता है।
चोर-डाकुओं को तो वह
देखकर भागता है,
और सज्जन पर रौब झाड़ता है।
संसार में दो तरह के प्राणी हैं—
एक शाकाहारी,
दूसरा मांसाहारी।
एक घास खाता है।
दूसरा मांस।
किन्तु कुत्ता, बिल्ली और आदमी
न तो शुद्ध शाकाहारी हैं, और
न शुद्ध मांसाहारी।
क्योंकि ये घास भी खाते हैं
और मांस भी।
वास्तव में ये हैं—सर्वाहारी।
इसीलिए इनसे सारी दुनिया हारी।
जब कुत्ता का पेट
मांस, मटन और रोटी से
नहीं भरता, तो वह

विष्टा भी खाने लगता है।
 ठीक उसी तरह
 आदमी का भी पेट, जब
 मेहनत की कमाई से
 नहीं भरता, तब वह
 रिश्वत भी खाने लगता है।
 चोरी-डकैती और मिलावटबाजी करता है।
 बिल्ली की तो बात ही कुछ और है—
 वह तो उसी घर में चोरी करती है,
 जिस घर में वह खुद पलती है।
 ठीक, आदमी की तरह।
 क्योंकि आदमी भी तो
 उसी थाली में छेद करता है,
 जिस थाली में वह खाता है।
 उसी को आँखें दिखाता है,
 जो उसे भोजन कराता है।
 जिस तरह आदमी के दो वर्ग हैं—
 एक सर्वहारा वर्ग,
 दूसरा सम्पन्न वर्ग।
 यानी आम आदमी,
 और खास आदमी।
 उसी तरह कुत्ते के भी दो वर्ग हैं—
 पहला देहाती कुत्ता और
 दूसरा विलायती कुत्ता।
 यानी आम कुत्ता,
 और खास कुत्ता।
 आम आदमी की विशेषता है कि—

वह बिल्कुल आम की तरह होता है,
 जो खास आदमियों के द्वारा
 पके हुए आम की तरह
 चूसकर फेंक दिया गया होता है।
 सर्वहारा, यानी सब प्रकार से
 हारा हुआ, अर्थात् शोषित वर्ग।
 सम्पन्न, यानी धनी,
 अर्थात् शोषक वर्ग।
 आम कुत्ता, खास कुत्ते को
 देखकर भौंकता है।
 क्योंकि वह इसके ऐश्वर्य से
 ईर्ष्या करता है।
 खास कुत्ता भी आम कुत्ते को
 देखकर भौंकता है,
 और भौंक-भौंक कर इसे
 अपने दरवाजे से दूर भगाता है।
 क्योंकि उसे डर है कि
 यह उसका ऐशो-आराम छीन न ले।
 ठीक, आदमी की तरह।
 इसीलिए आदमी, आदमी से कम
 और कुत्ते-बिल्ली से अधिक प्यार करता है।
 किन्तु यह उसका प्राणि मात्र के प्रति
 प्रेम नहीं,
 बल्कि उसका स्वभाव है।
 शायद इसी कारण आदमी
 अक्सर कुत्ते की जिंदगी जीता है,
 या फिर कुत्ते की मौत मरता है।

मनुष्य को पैसे की आवश्यकता है, क्योंकि उससे जीवन का निर्वाह और दूसरों की सेवा होती है, किंतु
 जो यह मानता है कि इस दुनिया में पैसा ही सब कुछ है, उसकी संगति कभी मत करना। वह आदमी
 पैसा के लिए कुछ भी कर सकता है। उसकी संगति से सिवाय धोखा के कुछ नहीं मिलेगा। उसका तो
 कुछ नहीं जायेगा, तुम अपना सर्वस्व खो बैठोगे, यहां तक प्राण भी। —संत वाणी

देना सीखें

लेखक—गुरुभूषण दास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसमें परस्पर लेन-देन का अटूट संबंध है। इसी से हम सबका व्यवहार सम्पन्न होता है। हम हठ कर लें कि न किसी से कुछ लेना है, न किसी को कुछ देना है। 'कुछ लेना न देना मगन रहना।' तो क्या यह व्यावहारिक है? क्या हम ऐसा करके जीवित रह पाएंगे? हम हवा लेते हैं, पानी लेते हैं, भोजन लेते हैं। सच कहा जाये तो सर्वत्र लेते हैं, देते कहां हैं! और यदि देते भी हैं तो अपवित्र एवं अशुभ। शुभ लेते हैं और अशुभ देते हैं। प्राणप्रद ऑक्सीजन (O) लेते हैं और बदले में कार्बन डाई आक्साइड (CO) देते हैं। पवित्र और मीठा जल लेते हैं और बदले में अपवित्र और खारा पेशाब देते हैं। शरीर रक्षक शुद्ध भोजन लेते हैं और बदले में अशुद्ध मैला देते हैं। दुनिया से पोषण लेते हैं और बदले में प्रदूषण फैलाते हैं। व्यवहार में भी देखो न, माता-पिता से प्यार पाते हैं और बदले में दुत्कार देते हैं। फिर भी यह अहंकार है, 'कुछ लेना न देना मगन रहना।' क्या गजब का नज़रिया है! क्या कबीर साहेब का यही भाव था कि दुनिया से लेना-देना बंद कर दो! यदि सचमुच उनके भाव को ग्रहण कर सकें तो हम दुनिया के लिए वरदान हो जायेंगे। सद्गुरु कहते हैं—दूसरों का दोष मत लो और दूसरों को दुख मत दो। हम ऐसा करते हैं या इसके विपरीत? जरा ठहरें....। और अपने मन में उत्तर की तलाश करें...। कौन सा उत्तर आ रहा है, यही न जो हम सुनना पसंद नहीं करते। खैर! 'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय।' इस पल के बाद हम क्या करें अर्थात् अब दुनिया को क्या दें? तो आइये हम कुछ बिन्दुओं पर विचार करते हैं।

दान—किसी भी रूप में वापस न मिलने की आशा से जो कुछ भी हम दूसरों को देते हैं, उसे दान कहते हैं। दान कितना करें! इसमें सबके लिए समान नियम लागू नहीं होता। जितने अधिक बीज आप बोते हैं, आप उतना

ही अधिक फसल काटते हैं। महत्त्वपूर्ण है, देने का भाव, अपनी वस्तुओं का त्याग। इससे धन के प्रति हमारे मन में जो पकड़ है, आसक्ति है, वह ढीली होती है। यह चित्तशुद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अपरिग्रही होने के लिए देना सीखें। कुछ लोग तो निर्वाह की वस्तुओं में से भी कुछ कटौती करके देते हैं। मदर टेरेसा ने कहा है, इतना दो कि तुम्हें अपने निर्वाह में कष्ट होने लगे। यह हमें अव्यावहारिक लग सकता है। लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जो स्वयं न खाकर दूसरों को खिला दिये। यह असंभव नहीं है। आज भी ऐसे लोग हैं। अमेरिका के जार्ज पी बॉडी ने अपनी करोड़ों की संपत्ति गरीबों की सेवा में लगा दी। यहां तक कि उन्होंने अपने रहने के लिए जीवन में मकान तक नहीं बनवाया और जीवन भर किराये के मकान में रहे। बीसवीं सदी की शुरुआत में कलकत्ता के प्रोफेसर प्रफुल्ल चंद्र राय आठ सौ रुपये मासिक वेतन पाते थे; अपने गुजर के लिए केवल चालीस रुपये रखकर शेष सात सौ साठ रुपये परोपकार में लगा देते थे। वे जनसेवा की भावना से जीवनपर्यंत अविवाहित रहे। उदाहरण अनेक हैं कहां तक गिनाया जाये। इतना उदार हम न बन सकें तो कम से कम अपने निर्वाह के अतिरिक्त जो भी हमारे पास है, उसे यथाशक्ति दूसरों की सेवा में लगाते रहें। यह एक बड़ा काम होगा। हम इतना भी नहीं कर सकते तो कम से कम लोगों से जितना प्राप्त करते हैं उतना तो अवश्य दें। यदि इतना भी नहीं कर पाते हैं, तो इसका अर्थ है हम स्वयं को धोखा दे रहे हैं और अपना भयंकर नुकसान कर रहे हैं।

गांव का एक किसान एक बेकर (डबल रोटी बेचने वाले) को एक सेर मक्खन बेचा करता था। एक दिन बेकर ने यह परखने के लिए कि मक्खन एक सेर है कि नहीं, उसे दुबारा तौला और उसने पाया कि मक्खन कम

धर्म को डुबाने वाला कौन?, पृष्ठ 1

है। इस बात से वह नाराज हुआ और किसान को पंचायत में ले गया। सरपंच ने किसान से पूछा कि उसने तौलने के लिए किस बाट का इस्तेमाल किया था? किसान ने कहा, “हुजूर, मैं अनपढ़ हूँ। मेरे पास तौलने के लिए कोई बाट नहीं है। लेकिन मेरे पास एक तराजू है।” सरपंच ने पूछा, तो तुम मक्खन को कैसे तौलते हो? किसान ने जवाब दिया, इसने मक्खन तो मुझसे कुछ दिनों से खरीदना शुरू किया है, मैं तो बहुत पहले से इससे एक सेर ब्रेड खरीद रहा हूँ। रोज सुबह जब बेकर ब्रेड लाता तो मैं ब्रेड को बाट बनाकर बराबर का मक्खन तौलकर दे देता हूँ। अगर इसमें किसी का दोष है तो वह है, बेकर का!

इस संदर्भ में मैं उन व्यापारी भाइयों को धन्यवाद देता हूँ जो ग्राहकों से जितना धन प्राप्त करते हैं उतने का उचित नाप-तौलकर उचित सामान देते हैं। उन ठेकेदारों को भी धन्यवाद है जो मजदूरों से परिश्रम करवाकर उन्हें उचित पारिश्रमिक देते हैं। वे कर्मचारी भी समझदार हैं और धन्यवाद के पात्र हैं जो जितना पाते हैं उतना ईमानदारी से काम करते हैं। यद्यपि ऐसा करने से कोई लाभ तो नहीं होता पर हानि भी नहीं होती। हां, व्यवहार निपट जाता है। लाभ तो तब होता है जब हम जितना पायें उससे ज्यादा दें, किसी भी रूप में। इस मामले में हम कुदरत से सीखें। धरती में जितना बोते हैं उससे कई गुना अधिक वापस पाते हैं। इस प्रकार सुंदर समाज निर्माण में हमारा पहला कर्तव्य है कि समाज से जितना पाते हैं, उससे अधिक दें।

दूसरी बात है शुभ दें, अशुभ न दें। जब हम देने की केवल औपचारिकता निभाते हैं तब वस्तु की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं देते। किसी को देना कोई टोटका करना नहीं है, यह हमारी नैतिक जिम्मेदारी है। और जब हम अपनी जिम्मेदारी का सही ढंग से निर्वाह करते हैं तब शक्ति चले तक अच्छी से अच्छी चीज देने का प्रयास करते हैं। मात्रा का महत्त्व नहीं, महत्त्व है गुण का। किसी को कुछ भी वस्तु या द्रव्य के रूप में देते हैं तो उसके साथ हम अपना भाव भी अर्पित करते हैं और

अपना मूल चरित्र भी उजागर करते हैं। इसलिए अच्छी चीज देने का अभ्यास करें। कई बार लोग दुल्हन को दहेज में ऐसी वस्तु देते हैं जो उसकी ससुराल पहुंचने के पहले ही खराब हो जाती है। ज्यादा क्या विवरण दूँ कुछ लोग तो मंदिर के दान-पात्र में या संतों के चरणों में कटे-फटे नोट भी डाल देते हैं। खरे सिक्के बाजार में चलते हैं और छोटे सिक्के मंदिर के दान पात्र में और संतों के चरणों में। न देना अच्छा है बजाय गलत चीज देने के। खेत में सड़ा-गला बीज डालेंगे तो कौन-सा परिणाम मिलेगा?

तीसरी बात है, सुपात्र को दें। प्रश्न होता है, सुपात्र कौन? पूज्य गुरुदेव जी इसे तीन भागों में बाटते हैं। पहला है अभावग्रस्त; ये वे लोग हैं जो अपने जीवन निर्वाह के लिए शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम हैं। वे लोग भी हैं जो किसी प्राकृतिक आपदा के शिकार हो गये हैं। ऐसे लोगों को अपनी शक्ति चले तक अवश्य दें। मन में करुणा होगी तो देने के लिए सोचना नहीं पड़ेगा। हां, कुछ व्यावहारिक भीखमंगे होते हैं, उन्हें कुछ भी देना उचित नहीं है। उनको कुछ देना तो उन्हें और बढ़ावा देना है। अपात्र को दिये दान का विपरीत प्रभाव भी हो सकता है। दूसरा है सार्वजनिक संस्थाएं; जहां लोकमंगलकारी कार्य होते हैं। हम अकेले उतना अधिक और अच्छा नहीं कर सकते जितना एक सार्वजनिक संस्था कर सकती है। हमें सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूरी जानकारी भी नहीं होती। यदि होती भी है तो हमारे समय और शक्ति सीमित हैं। जब किसी सार्वजनिक संस्था को दान करते हैं तब सहज ही सामाजिक कार्य में सहभागी होते हैं। अतः सार्वजनिक संस्थाओं को अपना कर्तव्य समझकर दें। तीसरा है पवित्रात्मा; ये वे महामना हैं जो समाज के नैतिक एवं चारित्रिक सुधार के लिए सतत प्रयासरत हैं। हमें दो प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है, एक वह जो हमें रोजी-रोटी कमाना सिखाती है और दूसरी वह जो जीना सिखाती है। जो हमें जीने की कला सिखाते हैं, वे पवित्रात्मा होते हैं। वे अपने लिए कोई

भौतिक उपार्जन नहीं करते। पूर्णरूप से वे अपना सुधार करते हैं और समाज सुधार के लिए समर्पित रहते हैं। इसके बदले में वे समाज से कुछ पाने का न दावा करते हैं और न ही किसी को विवश करते हैं। अतः ऐसे संत-महापुरुषों को श्रद्धापूर्वक उनके जीवन निर्वाह के लिए कुछ दें।

चौथी बात है, जो कुछ भी देते हैं उसे श्रद्धा और प्रेम से दें। इस प्रसंग को सुस्पष्ट करने के लिए मैं तैत्तिरीयोपनिषद् के उस प्रसिद्ध मंत्र का भाव देता हूँ जिसमें आचार्य ने दान के विषय में बड़ी उदार सीख दी है। इसमें प्रसंग के अनुरूप अन्य आवश्यक बातों का भी समावेश हो जायेगा। आचार्य कहते हैं— 'श्रद्धया देयम्' श्रद्धा से दान करना। यदि तुम कहो कि मुझे श्रद्धा नहीं है, तो कोई बात नहीं, अश्रद्धा से सही, दान करो तो! अश्रद्धा से दान करते-करते श्रद्धा भी उत्पन्न हो सकती है। अंततः दान करना अच्छा है। इसलिए ऋषि कहते हैं 'अश्रद्धया देयम्' अश्रद्धा है, तो भी दो।

'श्रिया देयम्' श्री कहते हैं लक्ष्मी को, धन-दौलत को। तुम दान करो तो अपने धन के अनुसार करो। कहावत है कि "राजा का दान प्रजा का स्नान बराबर होता है।" अतएव अपनी क्षमता के अनुसार दान करो।

'ह्रिया देयम्' लज्जा से दो। तुम्हारे पास धन है। जिनके कम धन है वे भी दान करते हैं, और तुम हाथ समेटे बैठे हो। तुम्हें लोग क्या कहेंगे! अतएव लजा करके भी दान करो। इतना ही नहीं, 'भिया देयम्' भय से भी दान करो। तुम दान-धर्म नहीं करोगे तो तुम्हारा भविष्य खराब होगा। देने वाला ही पाता है, यह प्राकृतिक नियम है, अतएव आगंत बिगड़ने के भय से भी दान करो।

आचार्य अंत में कहते हैं 'संविदा देयम्' संविदा का अर्थ है करार, ठहराव, प्रतिज्ञा आदि। यदि तुमने किसी को देने का वचन दिया है तो अवश्य दो। अपनी बात को न काटो। आशा देकर निराश न करो। संविदा से सहानुभूति का भी अर्थ प्रकट होता है। तुम सहानुभूति

के भाव से, मैत्रीभाव से भी देने की आदत रखो। संविदा का अर्थ प्रज्ञा एवं विवेक भी है। अतएव अभिप्राय है कि दान विवेकपूर्वक करना चाहिए। तुम्हारे दान का जहां अच्छा उपयोग हो, वहां विवेकपूर्वक दान होगा।

(पूज्य गुरुदेव जी रचित उपनिषद् सौरभ से उद्धृत)

पांचवीं और अंतिम बात जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, दान देकर भूल जाना। इस मामले में कई उदार, सदाचारी, सुसभ्य और समझदार लोग भी कमजोर पड़ जाते हैं। कहीं कुछ देकर, ज्यादातर सार्वजनिक संस्थाओं में दान देकर लोग अपने नाम का प्रचार चाहते हैं। दानदाताओं की सूची में अपने नाम को लोगों को दिखाते हैं। शिलालेख की कामना रखते हैं। एक छोटी सी चीज भी देकर उसमें अपना नाम अंकित करवाते हैं और उसे वहां रखवाना चाहते हैं जहां अधिक से अधिक लोगों की नजर पड़े। मैं इसे सर्वथा गलत भी नहीं कह सकता, क्योंकि कुछ ऐसे लोग होंगे ही जिनके नाम का सार्वजनिक प्रचार न हो, दूसरे लोग न जानें तो वे कुछ देंगे भी नहीं। यदि उनके नाम के शिलालेख को निकलवा दें, तो वे वहां जाना ही बंद कर देंगे। यदि उन्हें अपने नाम के प्रचार से संतोष होता है तो यही सही। लेकिन वे दान के सच्चे लाभ से वंचित रह जाते हैं। ऐसे लोग अधिक और सच्चा लाभ को त्यागकर अल्प और झूठा लाभ में ही संतोष कर लेते हैं। लोग गोबर के लिए गाय नहीं पालते, दूध के लिए पालते हैं। दान चित्त शुद्धि के लिए दिया जाता है न कि नाम कमाने के लिए। यह तभी संभव है, जब हम दान देकर मौन हो जायें।

समाज में दोनों प्रकार के लोग होते हैं; दान देकर अपने नाम का प्रचार चाहने वाले तथा दान देकर अपने नाम को गुप्त रखने वाले। विभिन्न संस्थाओं में कितने ऐसे भक्त-सज्जन जुड़े हैं, जो बराबर वहां कुछ न कुछ सहयोग करते हैं, उन्होंने वहां लाखों का भी दान दिया होगा, परन्तु उन्हें अपने नाम की कोई ख्वाहिश नहीं

रहती। इलाहाबाद इन्कमटैक्स ऑफिस में कार्यरत हैं, श्री बजरंग गिरी जी। वे एक संस्था से जुड़े हैं। एक बार उनसे मिलना हुआ, तो चर्चा के दौरान बताया कि हम लोग कभी-कभी ठंड की रात में - बजे गाड़ी में कम्बल भरकर निकलते हैं। देखते हैं बाहर कहीं कोई सो रहा है, ठंडी से परेशान है तो उसके ऊपर चुपचाप कम्बल ओढ़ाकर चल देते हैं। उन लोगों को न जगाते हैं और न ही कुछ बातचीत करते हैं। बस, अपना काम करते चले जाते हैं। दूसरा उदाहरण है सूरत स्मीमेर मेडीकल कालेज का। वहां के अस्पताल में एक बार दोपहर को जाना हुआ। देखा कि एक व्यक्ति एक छोटी ट्राली में सादा भोजन—रोटी, सब्जी, दाल, भात, दूध, ब्रेड आदि रखकर जनरल वार्ड में आकर खड़ा हुआ। वहां मरीज के साथी लोग उनसे भोजन लेने लगे। बच्चों के लिए दूध देते भी देखा। पूछने से पता चला कि यह निःशुल्क भोजन व्यवस्था किसी संस्था की ओर से है। ट्राली में किसी का नामोनिशान नहीं था। मुझे अच्छा लगा, संस्था के सदस्यों के प्रति धन्यवाद का भाव जगा। विभिन्न संस्थाओं के अपने नियम एवं उद्देश्य होते हैं, तदनुसार कार्य करते हैं। सब इसी ढंग से सेवा करें, यह कहने का मेरा भाव नहीं है। मैं तो यहां इस बात को रेखांकित करना चाहता हूं कि दान देने का पूरा लाभ तभी मिलेगा जब हमारे मन में उदारता की ख्याति की आकांक्षा न हो। इस संबंध में एक सूफी संत के ये विचार मननीय हैं।

“उदारता की ख्याति के तीन घातक परिणाम होते हैं। पहला यह कि जिसकी उदारता की ख्याति फैलने लगती है उसका अहं उस पर हावी होने लगता है और उसे भीतर से नष्ट कर डालता है। दूसरा यह कि उस विख्यात उदार आदमी की कई लोग मिथ्या नकल करने की कोशिश करते हैं और अपने अहं और मिथ्या उदारता के कारण भीतर-ही-भीतर नरक में डूबते जाते हैं। तीसरा यह कि अगर पाने वाला जानता है कि उसे देने वाला कौन है तो वह एहसान तले दबा रहता है और उसकी आत्मा पर यह बोझ उसे नष्ट कर देता है।

असल में दान देने और लेने में किसी का किसी पर एहसान या उपकार नहीं होता। वास्तव में दान एकदम गुप्त होना चाहिए। न देने वाले को पता हो कि लेने वाला कौन है, न लेने वाले को पता चले कि उसे किसने दिया। लोग जिस श्रेष्ठतम दानवीरता और उदारता को जानते हैं वह वास्तव में निम्नतम श्रेणी की दानवीरता और उदारता है। दान मनुष्य को मुक्त करने के लिए होता है पर आज समाज में सबसे बड़ा बन्धन बनकर रह गया है।”

(सूफी कथाएं, लेखक—संजीव मिश्र)

अपने को ऐसा क्यों मानें कि दान देकर हम औरों से बड़े हो गये। किसी को देकर हमने उपकार नहीं किया बल्कि अपना ही हित किया है। त्याग में अहं का अंकुर नहीं फूटना चाहिए, विनम्रता का कोमल और प्यारा पौधा बाहर आना चाहिए। सच तो यह है कि जिन्होंने हमारा दान स्वीकारा उनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

एक धनी व्यापारी ने एक संत के श्री चरणों में अर्पित करते हुए कहा, ‘मैं ये पांच सौ सोने के सिक्के आपको भेंट करना चाहता हूं ताकि आप बड़ा आश्रम बनवा सकें।’

‘ठीक है, मैं ले लेता हूं।’ संत ने निर्विकार भाव से कहा। व्यापारी को कुछ अजीब लगा। उस जमाने में तीन-चार सोने के सिक्कों से एक साधारण परिवार का साल भर का खर्चा निकल आता था और संत ने पांच सौ सोने के सिक्के पाकर भी कुछ नहीं कहा।

व्यापारी बोला, ‘गुरुजी, थैली में सोने के सिक्के हैं।’

‘हां, तुमने बताया।’ संत ने सहज भाव से कहा।

‘पांच सौ!’ व्यापारी ने पुनः कहा।

‘हां, पांच सौ!’ संत ने मुस्कराते हुए कहा।

‘बड़ी रकम है, गुरुजी!’ व्यापारी ने इस उम्मीद में कहा कि शायद संत जी उसकी उदारता को समझें और उसका शुक्रिया अदा करें।

संत कुछ क्षण मौन रहे, फिर बोले, 'हां, सचमुच बड़ी रकम है। और माफ करना, तुम इतने कृतघ्न हो, कि इतनी बड़ी रकम स्वीकारने के लिए तुमने मेरा शुक्रिया भी अदा नहीं किया।'

अकबर महान के नवरत्नों में एक कवि थे, रहीम जी। अकबर ने उन्हें नवाब का पद दिया था। कहा जाता है कि रहीम जी बहुत दानी थे। उन्हें जो भी आय होती थी, उसे दान कर देते थे। उनकी विशेषता यह थी कि लेने वाले का चेहरा नहीं देखते थे। देते समय अपनी गर्दन झुकाकर रखते थे। कहते हैं कि एक बार गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें एक कागज पर लिखकर भेजा—

सीखे कहां नवाब जी, देनी ऐसी देन।

ज्यों-ज्यों कर ऊपर चढ़ै, त्यों-त्यों नीचे नैन

अर्थात् इस प्रकार का दान करना आप कहां से सीखे? जैसे-जैसे आपका हाथ दान करने के लिए ऊपर जाता है, वैसे-वैसे आपके नयन झुकते जाते हैं। रहीम जी ने उस कागज को पढ़ा और उसके पीछे लिख दिया—

देनहार कोई और है, भेजत है दिन रैन।

लोग भ्रम हमपै करैं, तासों नीचे नैन

वस्तुतः देने वाला तो कोई और है, जो दिन-रात भेजता रहता है। किंतु लोग इस भ्रम में हैं कि मैं यह सब देता हूँ। इसलिए लज्जा से मेरी आंखें झुकी रहती हैं।

हम दुनिया की संपत्ति पर अपना एकाधिकार क्यों मान लेते हैं। 'सबै भूमि गोपाल की', यहां जो कुछ भी है प्रकृति का है। माना कि हमने अकल लगाई, मेहनत की और धन अर्जित कर लिया। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अकेले उसके भोक्ता हैं। हजरत मुहम्मद ने तो यहां तक कहा है, 'सूखी रोटी और पानी पर ही तुम्हारा अधिकार है।' श्रीमद्भागवत में तो चौंकाने वाली बात है—

यावत् श्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति

(भागवत / /)

अर्थात् जितने में देहधारियों का पेट भर जाये उतने पर ही उनका अधिकार है। जो इससे अधिक पर अपना अधिकार मानता है वह चोर है, अतः दण्ड का भागी है।

इसे मानने के लिए हम राजी भले ही न हों, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जो जितना उपयोग कर पाता है उतना ही उसका होता है, बाकी दूसरों का। और बहुत ऐसी चीजें हैं हमारे पास जिनका उपयोग हम वर्षों नहीं करते। बहुत लोगों का तो इतना अधिक है कि वे जीवन भर उसका उपयोग नहीं कर पायेंगे। अंत में छोड़कर जायेंगे ही। हम समाज से कमाते हैं, पर समाज को लौटाते नहीं। ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं, "जो न पूज्यों को खिलाता है और न मित्रों को, प्रत्युत केवल स्वयं खाता है वह केवल पाप ही खाता है।" जब हम दुनिया में आये, तो सड़कें, पार्क, स्कूल आदि सब बने-बनाये मिल गये। हमारा भी तो नैतिक दायित्व है कि आने वाली पीढ़ी के लिए कुछ बनायें। केवल अपनों में खर्च करना और अधिक से अधिक भोग-विलास एवं दिखावा में खर्च करना, यह मानवता नहीं है। हमें तो उनके लिए भी खर्च करना चाहिए जो अपने नहीं हैं और जिनसे किसी भी रूप में वापस मिलने की संभावना नहीं है। उन्हें देना सीखें। जब निःस्वार्थ भाव से देते हैं, तो प्रकृति हमें कई गुना लौटा देती है।

एक व्यस्त व्यवसायी शीघ्रतापूर्वक एक मीटिंग में जा रहा था। इमारत के दसवें तल पर मीटिंग हाल था। सीढ़ी से चढ़ते हुए जा रहा था। जब वह सातवें तल में पहुंचा तो सीढ़ी पर बैठा एक गरीब बालक गिन रहा था, " , , , ।" फिर वह बोला, 'साहब! आप व्यस्त दिख रहे हैं, इसलिए मैं बाधा पहुंचाने के लिए क्षमा चाहता हूँ। परंतु मैं अपने जन्मदिन के अवसर पर दूसरों के लिए कुछ करना चाहता हूँ। मैं और कोई काम तो जानता नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि जो भी पचासवां व्यक्ति यहां से गुजरेगा, मैं उसके जूते मुफ्त पालिश करूंगा।' बालक के पवित्र मनोभाव की कद्र करते हुए

व्यवसायी ने अपने जूते खोल दिये। जूते सचमुच गंदे हो गये थे। उस बालक ने बड़ी लगन और उत्साह से जूते की पालिश की। अब जूते ऐसे दिख रहे थे मानो वे बिलकुल नये हों। व्यवसायी ने जूते पहने और पालिश वाले से पूछा, 'तुम आम तौर पर कितने पैसे लेते हो?' बच्चे ने कहा, 'पांच रुपये साहब!' उस व्यक्ति ने जेब से दस रुपये का नोट निकाला और कहा—'बेटे! ये पैसे तुम्हारे जन्मदिन पर मिठाई खाने के लिए।'

प्रकृति का अद्भुत विधान है, जब हम निष्काम भाव से देने लगते हैं तब और अधिक मिलता है। परंतु जब हम लोगों से मांग करते हैं तब नहीं मिलता या फिर उतना ही मिलता है जिससे किसी भांति निर्वाह हो जाये। ऊपर सुपात्र को दान देने की बात कही गई है। भीख मांगने वाले मांगने के लिए बड़ी मेहनत करते हैं, पर मिलता कितना है? संतजन मांग नहीं करते तो उन्हें बहुत मिलता है। हां, जिन साधुवेषधारियों के भीतर मांग होती है, उन्हें कम मिलता है। पहली और महत्त्वपूर्ण बात तो यह है, ऐसे लोगों को जितना भी मिले उनके मन में कमी बनी ही रहती है। संत अमिताभ ने इसे सुन्दर ढंग से कहा है, 'कमी की अनुभूति में जीने वाला गरीब होता है और कमी की अनुभूति में न जीने वाला अमीर। अमीरी और गरीबी की अनुभूति से जो मुक्त होता है, वह संत है।' यही बात सार्वजनिक संस्थाओं के लिए भी है।

लोग चाहते हैं कि उनके पौधे बड़े हो जायें, जबकि उन्होंने बीज बोये ही नहीं। वस्तुतः हम अपनी शक्ति और योग्यता के अनुरूप जब समाज को कुछ देते हैं तो निश्चित रूप से समाज हमें अधिक लौटाता है। विचारक एवं लेखक जिग जिग्लर का मानना है, आप जीवन में जो चाहते हैं वह पा सकते हैं यदि आप दूसरे लोगों की, जो कुछ वे चाहते हैं, उसे प्राप्त कराने में पर्याप्त सहायता करते हैं।' हमारा अधिकार केवल विनम्रतापूर्वक देने में है। अतः हम देना सीखें।

कबीर कौन?

रचयिता—श्री अशोक त्रिवेदी

जो सत्य का दर्शन कराये,
और झूठ को न कभी सराहे।...वह कबीर है।
जो फकीर सा जीवन बिताये,
और ताज को सर न झुकाये।...वह कबीर है।
जो आडम्बर को आग लगाये,
और भटकों को राह दिखाये।...वह कबीर है।
जो तलवार से भी भय न खाये,
और सब को खरी-खरी सुनाये।...वह कबीर है।
जो शीश अपना कर में उठाये,
और मृत्यु को भी देख मुस्कराये।...वह कबीर है।
जो मानुष-मानुष का भेद मिटाये,
और हर मानुष को एक बताये।...वह कबीर है।
जो धर्मों की दीवार गिराये,
और राम रहीम को एक बताये।...वह कबीर है।
जो ज्ञान की गंगा बहाये,
और पाठ उलटा न पढ़ाये।...वह कबीर है।
जो प्रेम का रस सर्वत्र बहाये,
और कमियाँ खुद में बताये।...वह कबीर है।
जो परमात्मा से परिचय कराये,
और जीव को मुक्ति दिलाये।...वह कबीर है।
जो जीवन का पारखी कहाये,
और इन्सान में भगवान दिखाये।...वह कबीर है।
जो हर मानुष की खुशियों खातिर,
खुद चिंता में कभी सो न पाये।...वह कबीर है।
जो जगत के सारे भ्रम मिटाये,
और माया-मोह से हमें बचाये।...वह कबीर है।
जो खुद शिक्षा तो कबहूँ न पाये,
पर दुनिया भर को पाठ पढ़ाये।...वह कबीर है।
जो अपने को अनपढ़ बतलाये,
पर परम तत्त्व ज्ञानी कहलाये।...वह कबीर है।
जो धन दौलत न पास धराये,
और अपने को छोटा बतलाये।...वह कबीर है।
जो पहले सब को शीश झुकाये,
पर दुनिया का साहेब कहलाये।...वह कबीर है।
जो ध्यान में ही आनन्द पाये,
और संत शिरोमणि कहलाये।...वह कबीर है।

शंका समाधान

प्रश्न—संजीव कुमार, नवापारा, रायपुर, छ. ग.

. प्रश्न—कबीर साहेब ने बीजक के वें शब्द के प्रारंभ में कहा है—पंडित बाद बदे सो झूठा। राम के कहै जगत गति पावै, खाँड़ कहै मुख मीठा। और उसी के अंत में कहते हैं—कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी। क्या इन दोनों में विरोध नहीं है?

उत्तर—उक्त दोनों कथन में विरोध नहीं है, किन्तु विरोधाभास है। विरोधाभास कहते हैं विरोध न होते हुए भी विरोध जैसा लगना।

पहले की दोनों पंक्तियों में सद्गुरु कबीर कहते हैं कि ऐ पंडितो! जो तुम यह दावा करते हो कि राम-राम कहने-जपने मात्र से संसार के लोग जगत-बंधन से छुटकारा पा जाते हैं, उनके सारे पापों का नाश हो जाता है, तुम्हारा यह दावा झूठा है। क्योंकि यदि राम-राम कहने मात्र से जगत-बंधनों से छुटकारा मिल जाता है तो शकर खाये बिना शकर-शकर कहने मात्र से मुंह मीठा हो जाना चाहिए। इसी प्रकार बिना भोजन खाये और बिना पानी पीये केवल भोजन-भोजन कहने से भूख तथा पानी-पानी रटने से प्यास दूर हो जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो राम-राम या अन्य किसी नाम के रटने-जपने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती।

राम-राम या अन्य कोई नाम के जपने-रटने से पापों से छुटकारा होकर मुक्ति मिल जाती है, यह कहना मिथ्या महिमा मात्र है और लोगों को भावुक बना देना है। यह ठीक है कि जिस आदमी की जिस नाम के प्रति श्रद्धा-आस्था होती है उसे जपने से उसके मन में एक सात्विक भावना, एकाग्रता एवं प्रसन्नता आती है। कुछ देर के लिए उसके मन से सांसारिक भावनाएं दूर होकर मन निर्मल हो जाता है। परंतु यदि उसने विषय-विकारों का, काषायों, दोष-दुर्गुणों का त्याग नहीं किया है, जीवन में संयम, सदाचार, साधना नहीं हैं तो वह दुखों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता और न उसे

चिरस्थायी शांति-सुख की प्राप्ति हो सकती है।

मन का पूर्णतः क्लेशरहित आत्मसंतुष्ट, तृप्त, निष्काम, शांत हो जाना—यह जीते जी मुक्त हो जाना है और यह होगा विषयासक्ति, अहंकार-कामना के त्याग से न कि किसी नाम जप से। यदि विषयासक्ति, अहंकार-कामना का त्याग नहीं हुआ तो भजन कहां हो रहा है। इसीलिए कबीर साहेब कहते हैं—साँची प्रीति विषय-माया सो, हरि भक्तन की फाँसी। कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी। अर्थात्—विषय वासनाओं, सांसारिक माया से दृढ़ प्रेम करना हरिभक्तों के गले की फाँसी है। एक आत्मा-राम के भजन बिना तुम विषय-वासनाओं में बंधकर यमपुर में जाओगे।

कबीर साहेब जिस राम का भजन करने को कहते हैं वह राम हर व्यक्ति का अपना आपा, निजस्वरूप है। विषय-वासनाओं, सांसारिक माया-प्रपंच का त्याग होकर निज स्वरूप में स्थित हो जाना यही राम-भजन है। और यह केवल राम-राम रटने से नहीं होगा किन्तु संयम, सदाचार, साधना से होगा। कबीर साहेब राम-भजन बिना जिस यमपुर में जाने की बात कहते हैं वह यमपुर कहीं आकाश-पाताल में नहीं है, किन्तु वह है मन के विकार, मन का संतापित-पीड़ित बने रहना।

इस पद में सद्गुरु कबीर कहते हैं कि रटू सुग्गावत राम-राम रटना रामभजन नहीं है और इससे जीवन में कोई उपलब्धि होने वाली नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि कितने राम-राम रटने-जपने वाले बीड़ी-तम्बाकू तक का त्याग नहीं कर पाते, अन्य दोषों-विकारों का त्याग तो दूर की बात है। वे एक तरफ राम-राम कहते रहेंगे दूसरी तरफ बीड़ी-तंबाकू, गांजा-भांग, मद्य-मांस का सेवन भी करते रहेंगे। जो आदमी साधारण आदतों-दोषों तक का जीवन में त्याग नहीं कर पाया कैसे विश्वास किया जाये कि मरने पर वह मुक्त हो जायेगा। इसीलिए कबीर साहेब कहते हैं कि जो लोग यह दावा करते हैं कि विषय-वासनाओं, दोष-दुर्गुणों, आसक्ति-कामना का त्याग किये बिना राम-राम कहने मात्र से मुक्ति मिल जाती है, उनका यह दावा झूठा है। सच्चा राम-भजन तो विषय-वासना, सांसारिक अहंता-ममता, माया का त्याग है। इनके त्याग बिना ही मनुष्य दुखी,

पीड़ित, संतापित है। हर समय मन में चिंता, शोक, क्लेश, पीड़ा, भय आदि का बना रहना ही यमपुरी में निवास करना है। इन सबसे छुटकारा पाकर मन का पूर्ण निर्भय, निश्चित, निष्काम, शांत, संतुष्ट, तृप्त हो जाना मुक्ति है। और यह नाम रटन से नहीं किन्तु संयम-साधना से होगा।

. प्रश्न—श्रद्धा और अंधविश्वास में क्या फर्क है?

उत्तर—किसी के किसी विशेष गुण-योग्यता को देखकर उसके प्रति मन में प्रेम, समर्पण, आदर, पूज्य भाव होना या सत्य के प्रति निष्ठा होना श्रद्धा है और बिना विचारे किसी बात को चाहे वह कितनी भी झूठ क्यों न हो, सत्य मान लेना और मजबूती से पकड़ लेना अंधविश्वास है।

आदमी को श्रद्धावान तो होना चाहिए तभी वह किसी से कुछ सीख सकता है या प्राप्त कर सकता है और तभी वह एकनिष्ठ समर्पित होकर सत्पथ पर चल सकता है, किन्तु अंधविश्वासी नहीं होना चाहिए क्योंकि अंधविश्वास में सोचना-समझना कुछ रहता ही नहीं। अंधविश्वास में सत्य को छोड़कर झूठ को पकड़ लिया जाता है।

यहां अंधश्रद्धा और अंधविश्वास के अंतर को भी थोड़ा समझ लें। हमारे गुरु ईश्वर या ईश्वर के अवतार, पैगंबर, पुत्र हैं, और वे ही एकमात्र मुक्तिदाता हैं, वे जो चाहे कर सकते हैं, तथा हमारा मत-मजहब-संप्रदाय ही स्वर्ग-मोक्ष का एकमात्र रास्ता है, इसके अलावा स्वर्ग-मोक्ष का और कोई रास्ता नहीं है। इन जैसी बातों को सत्य मान लेना, इन पर कुछ भी विचार न करना—अंधश्रद्धा है।

अमुक तिथि को व्रत-उपवास रहने से, अमुक नदी में स्नान करने से, अमुक मंत्र या नाम का जप करने से, अमुक तीर्थ की यात्रा करने से, अमुक प्रकार से पूजा-पाठ-हवन-तर्पण करने से सारे पाप कर्मों के फल से छुटकारा मिल जाता है, ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होकर सारी मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं—ऐसा मानना और विश्वास करना अंधविश्वास है। गया, प्रयाग आदि में पिंडदान करने या श्राद्ध करने से पितरों की तृप्ति होती

है, आकाश-पाताल में कहीं पितरलोक, देवलोक, स्वर्ग-नरक आदि है—यह मानना अंधविश्वास है, क्योंकि ये सारी बातें बिना विचार की हैं तथा प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्था, तत्त्वों के गुण-धर्म एवं नियम के विपरीत हैं।

स्थान भेद से कहीं अंधश्रद्धा और अंधविश्वास दोनों के एक ही अर्थ होता है और कहीं अलग-अलग। यह प्रयोगकर्ता पर निर्भर है कि वह किस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करता है।

प्रश्न—नीलम, कुरुद, धमतरी, छ. ग.

. प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि गुरु की बात पर विचार नहीं करना चाहिए, आंख मूंदकर मान लेना चाहिए। किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि गुरु की बातों को भी विचार करके ही मानना चाहिए, आंख मूंदकर नहीं। दोनों में सही कौन है?

उत्तर—दोनों कथन सोपक्ष है। कहीं तो गुरु की बातों को बिना विचारे माना जा सकता है और कहीं विचार करके ही। यदि कोई साधनासंपन्न, स्ववश मन वाले, आत्मजयी गुरु साधक को साधना सम्बन्धी बातें बता रहे हैं, जिसमें साधक का सब प्रकार से हित है तो उन बातों को बिना विचार किये मान लेना चाहिए। किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिन्हें मान लेने में न गुरु का हित है, न साधक का और न समाज का, तो उन पर विचार करना आवश्यक है।

गुरु की बातों को मानने न मानने के पहले यह विचार करना होगा कि गुरु कौन है? किसी को दीक्षा देने मात्र से कोई सच्चा गुरु नहीं हो जाता, किन्तु सच्चा गुरु वह है जो बोध-वैराग्य संपन्न, सब तरफ से निष्पक्ष एवं निष्काम है।

अंततः प्रकृति की कारण-कार्य व्यवस्थापरक, निर्णय-विवेक युक्त बातें ही गुरुवाणी हैं और इनको मानने में ही सबका हित है। और जो मिथ्या महिमा युक्त अंधविश्वासपूर्ण काल्पनिक बातें हैं, चाहे वे किसी के द्वारा कही गयीं हों, नहीं माननी चाहिए।

—धर्मेन्द्र दास

साक्षी भाव

लेखक—विवेक दास

मनुष्य की इन्द्रियों को प्रकृति ने बहिर्मुख बनाया है इसलिए वह बाहर देखता है, बाहर सुनता है, बाहर जानता है और उसकी दौड़ बाहर ही होती है। वह सुख-शांति के लिए बाहर ही भटकता है। आज तो भौतिक संसाधनों का युग है। मनुष्य भौतिक संसाधनों को बटोरकर मानसिक शांति चाहता है, जो कदापि संभव नहीं है। और इसीलिए इतने संसाधनों के युग में होते हुए भी मनुष्य अपेक्षित सुख-शांति का अनुभव नहीं कर पा रहा है।

निश्चित ही जीवन में भौतिक संसाधनों की आवश्यकता है किन्तु इन संसाधनों से ही सुख-शांति मिलेगी, इस बात में कोई तथ्य नहीं है। हम सुख-शांति का अनुभव तभी कर सकते हैं, जब हमारा मन संयत और व्यवस्थित हो, आंतरिक शुचिता से पूर्ण हो। और मन की यह स्थिति भौतिक संसाधनों से नहीं, अपितु आंतरिक साधना से संभव है। आज एकतरफा विकास की बदौलत मानसिक तनाव, अनिद्रा, ब्लड प्रेशर, डायबिटीज, अलसर आदि मानसिक और शारीरिक बीमारियों से आदमी पीड़ित है। क्योंकि मनुष्य का मन शांत नहीं है। मानसिक उलझन और तनाव की वजह से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो रही हैं।

जब कभी किसी साधन सम्पन्न मनुष्य से मुलाकात होती है और वे अपनी मानसिक और शारीरिक स्थिति को बयान करते हैं तो सुनकर आश्चर्य होता है। यह एक-दो की बात नहीं किन्तु अनेकों की बात है। इसलिए मुझे लगता है आज मनुष्य को सबसे ज्यादा आवश्यकता है, तो मानसिक शांति की। आज अनेक प्रकार की साधना विधि के द्वारा लोगों को मानसिक शांति प्रदान करने की चेष्टा भी की जा रही है। लोगों को इससे लाभ भी हो रहा है। लोगों का रुझान भी ध्यान-साधना की ओर हो रहा है जो कि मानव समाज के लिए शुभ संकेत है।

आज तक लोगों की मान्यता रही है कि ध्यान-साधना साधु-संतों और निठल्ले लोगों की चीज है। सामान्य लोगों के लिए यह बेकार का काम है, किन्तु निष्पक्षतापूर्वक देखें तो ध्यान-साधना की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य के लिए है जो मानसिक शांति चाहते हैं। इस संदर्भ में मुझे एक घटना याद आयी। जब पहली बार इलाहाबाद में साप्ताहिक ध्यान शिविर का आयोजन किया गया शिविर समापन के पश्चात एक सज्जन ने जो सत्संग में भी आया करते थे, गुरुदेवजी से कहा—साहेबजी, कबीर साहेब ने तो कहा है कि “खुले नैन हंसि हंसि पहिचानों सुन्दर रूप निहारों।” और आप आंख बंद कराकर लोगों को बैठाने लगे हैं। संत-महात्मा ध्यान करें यह तो ठीक; किन्तु सामान्य लोगों को इसमें लगाकर समय बरबाद करना, उचित नहीं है। दूसरे वर्ष जब वही व्यक्ति ध्यान शिविर में हर रोज चार घंटा बैठा और ध्यानाभ्यास किया तो शिविर समापन पश्चात एक दिन गुरुदेव जी से कहा—साहेब, मैंने बिना समझे ध्यान का खंडन किया था किन्तु इस बार मैंने स्वयं अभ्यास किया और उसका मुझे बहुत लाभ हुआ। मेरा चिड़चिड़ापन दूर हो गया। मानसिक तनाव कम हुआ और मानसिक शांति हुई। अब तो मैं रोज दो घंटे ध्यानाभ्यास करता हूं। यह तो निश्चित है कि कोई ईमानदारीपूर्वक ध्यानाभ्यास करे तो इसकी उपेक्षा कर नहीं सकता। आज के युग में ध्यान-समाधि ही मानसिक सन्तुलन बनाये रखने की सबसे बड़ी औषधी है।

जब शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है तो अनेक प्रकार की बीमारियां आ घेरती हैं। शरीर बहुत जल्दी रोगी हो जाता है फिर बार-बार डॉक्टर-वैद्य की आवश्यकता होती है। लेकिन रोग प्रतिरोधक क्षमता होने पर बीमारी बहुत कम होती है या फिर होती ही नहीं है और यदि कभी हो भी जाती है तो बहुत जल्दी ठीक भी हो जाती है। ठीक ऐसे ही हमारे मन में भी दुख

निरोधक शक्ति होती है तो दुख कम लगते हैं या फिर लगते ही नहीं। किन्तु जिसके मन में दुख निरोधक शक्ति नहीं होती है वह बार-बार दुखी और अशांत होता जाता है। थोड़ी प्रतिकूलता हुई, थोड़ा भी विपरीत हुआ कि अशांत। ध्यान और समाधि मन की दुख निरोधक शक्ति को बढ़ाता है। सही अर्थ में ध्यान-समाधि करने वाला व्यक्ति मानसिक द्वंद्व से ऊपर होता है।

बाहर निमित्त भीतर उपादान

बाहर से निमित्त बनते हैं और बनते रहेंगे। कोई घटना तो घटेगी। वह अनुकूलता लेकर भी हो सकती है और प्रतिकूलता लेकर भी हो सकती है। यदि प्रतिकूल घटना घटती है किन्तु मन बलवान है, जागरूक है तो वह घटना हमारे दुख का कारण नहीं बनेगी। जैसे किसी ने हमें गाली दी, हमारा मन सशक्त है और हम उस गाली के प्रति तटस्थ हो गये, उसे स्वीकार नहीं किये तो हमें दुख नहीं हो सकता। ऐसे ही किसी ने हमारी हानि कर दिया, और हम सजग रह गये, तो हमें दुख नहीं होगा। जीवन में कोई भी घटना घटती है चाहे वह अनुकूल लगने वाली हो या प्रतिकूल लगने वाली, यदि मन सशक्त है तो हर्ष-शोक का द्वंद्व जीवन में नहीं आ सकता। हम किसी भी घटना के प्रति तटस्थ भाव नहीं रख पाते हैं इसीलिए हर्ष-शोक के द्वंद्व में पड़े रहते हैं। हम किसी घटना को लेकर हर्षित या शोकित होते हैं दोनों ही अवस्था में हम मन के संतुलन को गवांते हैं। यदि हम किसी घटना को प्रतिकूल मानकर द्वेष करते हैं तो यह प्रत्यक्ष दुख है ही। किन्तु अनुकूल मानकर राग करते हैं तो भी उसका अंतिम फल दुख ही होना है। अतएव हम राग-द्वेष के द्वंद्व में पड़कर दुख से बच नहीं सकते। यदि हमें दुख से बचना है तो राग-द्वेष के कारण को ही समाप्त करना होगा। राग-द्वेष के कारण को समाप्त करने से मतलब ऐसा नहीं कि हम बाहर से कोई परिवर्तन करेंगे। किन्तु हमें अपने अन्दर परिवर्तन करना होगा। राग-द्वेष के निमित्त तो बाहर बनते हैं किन्तु उपादान तो भीतर होता है। यदि भीतर उपादान न हो तो बाहर का निमित्त क्या करेगा। ये उपादान हैं हमारे पूर्व के रागात्मक या द्वेषात्मक संस्कार। ये संस्कार जब तक

बने रहेंगे तब तक हम चाहकर भी राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकेंगे।

सबको यह अनुभव होता है कि हम सद्गुण-सदाचार की बातें सुनते हैं, जानते हैं और यह अच्छा लगता है। क्रोध नहीं करना चाहिए, लोभ नहीं करना चाहिए, ये अहितकर हैं। मोह जीव के लिए घातक है, दुख का घर है। मोह के कारण ही हम भवव्याधि से पीड़ित होते हैं। किसी सत्संग में जाकर सुनकर, किसी महात्मा के पास बैठकर, यह संकल्प भी लेते हैं कि आज से मैं क्रोध नहीं करूंगा, मोह नहीं करूंगा आदि-आदि। लेकिन जैसे निमित्त बनते ही क्रोध, लोभ, मोह से ग्रसित हो जाते हैं। उस समय ज्ञान-ध्यान कुछ काम नहीं देता। इसका मतलब है कि हमारे अन्दर राग-द्वेष के प्रबल संस्कार बने हुए हैं। और जब तक ये संस्कार नहीं निकलेंगे तब तक हम यह जानकर कि यह विकार गलत है निमित्त आने पर फंसते जायेंगे।

भीतर का कुसंस्कार समाप्त कैसे हो?

भीतर का कुसंस्कार जितना प्रबल होता है उतना ही हम द्वंद्वग्रसित होते जाते हैं। अतएव बाहर का कोई निमित्त हमें दुख नहीं देता अपितु हमारे संस्कार ही हमें दुख देते हैं। ये संस्कार तभी क्षीण हो सकते हैं जब वे पुनः बल प्राप्त न करें। जैसे दीपक में तेल है तभी तक दीपक जलेगा, किन्तु दीपक में तेल नहीं डालेंगे तो एक समय ऐसा आयेगा कि तेल समाप्त हो जायेगा और दीपक बुझ जायेगा। हमारे जो रागात्मक या द्वेषात्मक संस्कार हैं उनको हम विचार और कर्म से बल प्रदान करते हैं और उन्हीं से आंदोलित होते जाते हैं।

जैसे किसी निमित्त को लेकर हमारे रागात्मक संस्कार उभरे और उस पर हम रागपूर्वक चिन्तन शुरू कर दिये, उस पर रस लेने लगे तो वह और परिपाक एवं मजबूत होगा फिर हम जैसे रागात्मक कर्म करेंगे और यदि हमने रागात्मक कर्म किया तो वह पत्थर की लकीर हो जायेगा और हम द्वंद्व में फंसते जायेंगे। ऐसे ही क्रोध के संस्कार उभरे और हमने उसमें रस लेना शुरू कर दिया, तो निमित्त के प्रति हमारा द्वेष मजबूत होता जायेगा, और यदि हम क्रोधावेश में कर्म पर उतर गये

तो वह पत्थर की लकीर हो जायेगा। और हम द्वेष के अनुबंध से बच नहीं पायेंगे।

साक्षी की साधना हमें सिखाती है कि हम कैसे राग-द्वेष के द्वंद्व से मुक्त हों और शांति की अवस्था में रह सकें। यदि हम रागात्मक या द्वेषात्मक संस्कारों को विचार और कर्म से बल न देकर साक्षी भाव से उनको देख सकें और तटस्थता बनाये रख सकें तो हमारे पुराने संस्कार क्षीण तो होंगे ही आगे और नये संस्कार नहीं बनेंगे और हम राग-द्वेष के अनुबंध से मुक्त होते जायेंगे।

साक्षीभाव साधना का राजपथ है जिसका आधार लेकर और विधिवत प्रयोग करके राग-द्वेष के द्वंद्व से मुक्त हुआ जा सकता है। कोई भी साधना विधि का एक क्रम होता है। बिना क्रम के हम उसमें सफल नहीं हो सकते। साधना सही क्रम से और सही ढंग से नहीं किया गया तो फिर या तो साधना विधि को दोष दिया जायेगा या फिर अपने भाग्य को। किन्तु कोई भी व्यक्ति इसके क्रम को समझे और साधना करे तो निश्चित ही सफलता मिलेगी।

पूर्व पीठिका

जब किसान खेती का काम करता है तो बीज डालने के पहले उसकी कमाई करता है। एक भूमिका तैयार करता है। पहले खेत की जुताई करता है, घास-फूस निकालता है, भूमि को उर्वर बनाता है, तब उसमें बीज डालता है, और शुरू से अन्त तक उत्साहपूर्वक परिश्रम करता है। उसके लिए ठंडी, गर्मी और बरसात की प्रतिकूलता गौण हो जाती है। वह उसको नजर अंदाज कर देता है, तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है। ऐसे ही व्यापार और अन्य काम में भी होता है। पूरे समर्पण और पूरी निष्ठा के साथ लगने से ही किसी क्षेत्र में सफलता मिलती है। साधना में प्रगति और सफलता के लिए योग दर्शन का यह सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि योग /

दृढभूमि (सफलता) प्राप्त करने के लिए तीन बातों की महती आवश्यकता है बहुत समय तक, निरंतर और प्रेमपूर्वक।

पहली बात है दीर्घकाल। कोई व्यक्ति साधना क्षेत्र में थोड़ा परिश्रम करे और सफलता चाहे तो यह संभव नहीं है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए बिना उकताए परिश्रम की आवश्यकता होती है। बच्चे पन्द्रह-बीस वर्ष परिश्रम करते हैं तब जाकर कुछ करने लायक बन पाते हैं। कुछ लोग थोड़े दिन अभ्यास करते हैं और अपेक्षित लाभ नहीं मिलता तो छोड़ देते हैं। या अभ्यास ढीला कर देते हैं। तो ऐसे में सफलता नहीं मिल सकती। अतएव दीर्घकाल तक सघन परिश्रम की आवश्यकता है।

दूसरी बात है निरंतरता। साधना की सफलता के लिए निरंतरता की आवश्यकता है। कोई दीर्घ काल तक साधना तो करता है किन्तु निरंतरता नहीं रख पाता, चार दिन करता है और चार दिन छोड़ देता है; तो वह सफल नहीं हो सकता। गुरु कबीर के शब्दों में कहा जाये तो “उठत बैठत कबहुँ न छूटे ऐसी तारी लागी।” यदि ऐसी निरंतरता हो जाये तो सफलता पक्की है।

तीसरी बात है सत्कारपूर्वक। यदि हम किसी काम को समर्पित होकर प्रेमपूर्वक नहीं करते हैं तो हम सफल नहीं हो सकते। क्योंकि यदि उस काम के प्रति प्रेम नहीं रहा तो अंत तक उसे हम निभा नहीं पायेंगे। अतएव सफलता के लिए साधना में उत्साह और श्रद्धा से लगने की आवश्यकता है। सद्गुरु कबीर ने कहा है—“जैसी लागी ओर की वैसे निबहै छोर।” जिस उत्साह और श्रद्धा-प्रेम से साधना प्रारंभ की जाये उसी उत्साह और प्रेम से निभाया जाये तो सफलता प्राप्त होना निश्चित है।

संयम-साधना

वाणी-संयम—मन की चंचलता का एक प्रमुख कारण है वाणी का असंयम। कोई वाणी का संयम किये बिना मन को संयत नहीं कर सकता। यदि मन को शांत करना है तो वाणी का संयम चाहिए। वैसे हम अपने जीवन व्यापार में अनावश्यक बोलकर खुद अशांत होते हैं और दूसरों को भी अशांत करते हैं। यदि एक वाणी संयमित हो जाये तो आदमी % व्यावहारिक झंझटों से बच सकता है।

यदि कोई साधना शिविर में भाग ले तो कड़ाई से मौन व्रत का पालन करे। घर-परिवार जहां रहते हैं, वहां भी कुछ क्षण मौन पालन का अभ्यास करे। मौन ही वह प्रथम सोपान है जो हमें शांति की दिशा में जाने में सहायक बनता है। वाणी को रोके बिना मन को रोकना असंभव है। हर व्यक्ति को कुछ ऐसा समय निकालना चाहिए जिसमें मौन का पालन कर सके।

श्रवण संयम—ऐसे शब्द, ऐसे गीत न सुने, जिससे मन में विचलन की स्थिति आये। ऐसे साहित्य न पढ़े, जिससे विकार आने की संभावना हो। रोचक, भयानक, यथार्थ तीन प्रकार के शब्द होते हैं। यदि मनुष्य के अन्दर विवेक शक्ति न हो तो रोचक और भयानक शब्दों के जाल में फंसकर अशांत होता रहता है। सद्गुरु कबीर ने कहा है—

शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्दै छोड़ा राज।

जिन्ह-जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज

आहार संयम—आदमी स्वादासक्तिवश अधिक खाता है और न खाने योग्य चीजों को खाता है जिससे शरीर और मन दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रमाद, आलस्य और चंचलता बढ़ती है। एक कहावत है— 'जैसा खाये अन्न वैसा होय मन और जैसा पीये पानी वैसी होय बानी।' यदि मन को संयमित करना है और शांति-लाभ लेना है तो आहार संयम आवश्यक है। जिसका रसेन्द्रिय पर कंट्रोल नहीं है उसका जननेन्द्रिय पर भी कंट्रोल नहीं हो पायेगा। अतएव जिभ्या पर संयम आवश्यक है। जो खुराक लिया जाये वह सात्विक, सुपाच्य और हल्का हो इससे तन और मन दोनों हल्के और स्वस्थ रहेंगे, जो कि साधना के लिए उत्तम है।

दृष्टि संयम—आंख ऐसी इन्द्रिय है जिस पर दूर से रूप देखकर प्रभाव पड़ता है। सद्गुरु कबीर ने कहा है "नैनन आगे मन बसै पलक पलक करे दौर।" "भाई रे नयन रसिक जो जागे।" आंखों के आगे मन बसता है। आंखों की चंचलता से मन भी चंचल होकर भागता है। हे भाई! यदि नयन रसिक जग जाये तो उसका मन जिस किसी प्रकार अविनाशी तत्त्व में लग सकता है। आंख की चंचलता बनी रहे और हम चकर-मकर देखते रहें,

तो मन का संयमन असंभव है। इसलिए दृष्टि हमेशा नम्र होनी चाहिए। यदि ऐसे किसी रूप या विषय की ओर दृष्टि चली गयी जिसका मन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है, तो उधर से दृष्टि फेर लेना चाहिए या नम्र कर लेना चाहिए।

प्रकृति ने बड़े ही सुन्दर ढंग से आंखों का निर्माण किया है। पलकें बनायी हैं जिससे आंखों की भी सुरक्षा है और मन की भी सुरक्षा है। जब आंखों में असुरक्षा की स्थिति आती है तो पलकें तुरंत ही गिर जाती हैं और आंखों की रक्षा करती हैं। हमको इसके लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि स्वतः यह काम पलकें करती हैं। यदि पलकें न होती तो आंखों के लिए समस्या खड़ी हो जाती। प्रकृति ने आंख जैसे संवेदनशील अंग के लिए पलकें बनायी है। ये पलकें आंखों की सुरक्षा तो करती ही हैं हम इसके माध्यम से मन की भी सुरक्षा कर सकते हैं। मन की चंचलता को रोक सकते हैं।

रात्रि के समय जब रोड पर ट्रकें चलती हैं तो उनकी हेड लाइट जलती रहती है किन्तु जब सामने से दूसरी गाड़ी आती है तो ड्राइवर हेड लाइट को बुझाकर डीपर का प्रयोग करता है और जैसे ही गाड़ी पार करती है, तो पुनः हेड लाइट जला देता है। यदि हेड लाइट ही जलती रहे, डीपर का प्रयोग न करे तो टकराने की संभावना बढ़ जाती है। क्योंकि आमने-सामने दोनों गाड़ी की हेड लाइट जलती रहे तो ड्राइवर को कुछ सुझाई नहीं पड़ेगा तो चौंधिया जायेगा। इसलिए डीपर का प्रयोग किया जाता है जिससे सुरक्षित निकल सकें। ठीक इसी प्रकार हमारी पलकें डीपर का काम करती हैं। यदि ऐसे दृश्य पर दृष्टि चली गयी, जिससे विकार की संभावना है तो डीपर (पलकें) गिरा लेना चाहिए। नजरें झुका लेना चाहिए, जिससे हमारे मन की सुरक्षा हो सके।

स्पर्श संयम—कोई साधना करना चाहे और स्पर्शासक्ति में भी पड़ा रहे तो यह संभव नहीं है। स्पर्श विषय में मैथुन मुख्य है और मनुष्य का मन इसी में

उलझता है। साधना के लिए इस पर संयम की आवश्यकता है। जो विरक्त साधक हैं; उनको तो मन, वचन और कर्म से मैथुन विषय का पूर्ण त्यागी होना चाहिए, किन्तु गृहस्थ साधकों को भी इसमें यथासंभव संयम रखना चाहिए और धीरे-धीरे पूर्ण संयमी बनने का प्रयास करना चाहिए। यदि कोई विरक्त पुरुष साधक है तो उसे नारी मात्र के प्रति मां-बहन-बेटी की दृष्टि रखना चाहिए, और कोई स्त्री साधिका है तो उसे पुरुष मात्र के प्रति पिता-भाई-पुत्र की भावना रखनी चाहिए। इससे विकार की संभावना ही नहीं रहेगी।

संयम से ही साधना बन सकेगी और साधना से शांति मिलती है तो शांति के लिए संयम की महती आवश्यकता है।

गीता (/) में बड़ा सुन्दर कहा गया है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम्

संयमहीन व्यक्ति में विवेकवती बुद्धि नहीं होती है और न ही संयमहीन में एकाग्रता होती है। एकाग्रता के बिना शांति नहीं मिलती, और शांति के बिना सुख कहां?

अभ्यास और वैराग्य

मन पर स्ववशता प्राप्त करने के लिए दो बातों की महती आवश्यकता है—पहली अभ्यास और दूसरी वैराग्य। बिना अभ्यास-वैराग्य के मन को वश में करना संभव नहीं है। योग दर्शन कहता है—अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः गीता भी कहती है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते

अर्थात्—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य से ही मन को वश में किया जा सकता है

अभ्यास है, लगातार सकारात्मक दिशा में प्रयत्न। जैसे हम किसी शुभ आधार—श्वास, नाद, ज्योति, नासिकाग्र आदि में मन को लगाते हैं। मन में दूसरा चिंतन होने पर भी उसे बार-बार एक आधार पर लगाते हैं तो यह अभ्यास है। इससे धीरे-धीरे मन एकाग्र होता जाता है। और साधना के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्माण होता है। एक अबोध बच्चा निरंतर प्रयत्न

करते-करते कुछ वर्षों में विद्वान हो जाता है। एक-एक ईंट जोड़ते-जोड़ते बड़े-बड़े महल खड़े हो जाते हैं। जमीन पर एक-एक कुदाल मारते-मारते कुआं खुद जाता है। एक-एक पैर उठाते-उठाते लंबे-लंबे रास्ते तय हो जाते हैं। ऐसे निरंतर के अभ्यास से एकाग्रता की शक्ति बढ़ती है। बहुत सुन्दर एक सूक्ति है—

करत करत अभ्यास के, जड़ मति होत सुजान।

रसरी आवत जात ही, शिल पर परत निशान

वैराग्य है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांचों विषयों से अनासक्ति। जब हमारा देखना, सुनना, सूंघना, छूना और स्पर्श करना आसक्ति रहित हो जाता है, कहीं हम विचलित नहीं होते; तो यह वैराग्य है। वैराग्य की अवस्था आने पर मन अपने ध्येय में सहज ही लग जाता है और समाधि फलित होने लगती है।

प्रारंभ कैसे करें

हम सीधे मन के साक्षी होना चाहें और उसे नियंत्रित कर लें तो यह असंभव है। पहले मन को एकाग्र और जागरूक बनाना होगा, सूक्ष्म बनाना होगा, तब हम उसके साक्षी हो सकते हैं। नहीं तो, यह पल-दो पल में कहां भरमा देगा और हम कहां पहुंच जायेंगे, पता भी नहीं चलेगा। इसलिए पहले एकाग्रता का अभ्यास करना होगा। और जब एकाग्रता सधने लगे तब हम वास्तविक साधना पर उतर सकेंगे। कुछ लोग बिना एकाग्रता का अभ्यास किये, बिना मन को सजग बनाये, साक्षी अभ्यास करना शुरू करते हैं मन उनको नचाता रहता है; फिर उनको कहना पड़ता है यह साधना-वाधना बेकार है। कितने लोगों को तो सीधा साक्षी भाव में बैठना मुश्किल लगता है, मजबूरी या मर्यादा-वश कभी बैठेंगे भी तो या तो विचार प्रवाह में बहते रहेंगे या फिर प्रमाद में पड़कर सो जायेंगे। ऐसे लोग साक्षी भाव जैसे उच्च साधना को कभी भी नहीं समझ सकते।

हम यदि मन के साक्षी होने चलें, मन के द्रष्टा होने चलें, तो सर्वप्रथम तो हमें यह समझना होगा कि मन का संबंध किससे है और किन कारणों से मन की चंचलता बढ़ती है। मन का सम्बन्ध एक तो शरीर से है और दूसरा प्राण से है। शरीर स्थूल है और प्राण सूक्ष्म

है। इन दोनों का गहरा प्रभाव मन पर पड़ता है। साधना के प्रारंभ में हम शरीर को लेंगे, शरीर के साक्षी बनेंगे।

शरीर का साक्षी होने के पहले हमें शरीर को ऊर्जावान बनाना होगा। यथासंभव स्वस्थ बनाना होगा। इसके लिए खूब पौष्टिक आहार खाने की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि आवश्यक परिश्रम, योगासन आदि करने की आवश्यकता है। यदि हम पौष्टिक आहार तो लेते जायें किन्तु शरीर से परिश्रम न हो तो शरीर का रोगी होना निश्चित है और रोगी शरीर से साधना संभव नहीं है। इसके लिए परिश्रम करना चाहिए, परिश्रम का अवसर नहीं है, तो व्यायाम और योगासन करना चाहिए इससे शरीर निरोग और प्राणवान होगा। कुछ न सही तो तेज चाल से तीन-चार किलोमीटर चलना चाहिए। यदि नित्य प्रति यह अभ्यास करेंगे तो शरीर की जड़ता समाप्त होगी और शरीर स्फूर्त बनेगा। व्यायाम, योगासन या टहलने के बाद यदि कुछ देर प्राणायाम किया जाये तो शरीर और ऊर्जावान हो जायेगा। और साधना के लिए उपयुक्त भूमिका बनेगी।

योगासन में सूर्य नमस्कार यदि कर लिया जाये तो और आसनों की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि सूर्य नमस्कार में बारह पोज होते हैं जिसमें शरीर का पूरा व्यायाम हो जाता है। प्राणायाम में भस्त्रिका, कपालभाति, अनुलोम-विलोम, भ्रामरी और उज्जयी प्राणायाम कर ले तो काफी है। प्राणायाम किसी मार्गदर्शक के सान्निध्य में करें तो ज्यादा उपयुक्त होगा।

जब शरीर स्फूर्त और ताजगी भरा होगा तो ही हम निर्विघ्न साधना अभ्यास कर सकेंगे।

बैठक—शरीर प्रेक्षा

सामूहिक साधना शिविर में तो पूरी व्यवस्था रहती है और साधकों के लिए एक निश्चित आसन और जगह बता दिया जाता है और वहां अभ्यास में भी सरलता रहती है। किन्तु कोई व्यक्तिगत अपने घर या आश्रम में करना चाहे तो एक सामान्य आसन जो न अधिक पतला हो और न ही अधिक मोटा हो बल्कि जिस पर सुखपूर्वक देर तक बैठा जा सके उसको लेकर कहीं एकांत शांत जगह में बैठें, जहां कोई बाधा न पहुंचाये।

हल्के से आंखें बंद कर लें और सरसरी तौर पर अपने शरीर में ही मन को घुमायें और शरीर की हरकत को सजग भाव से देखें। प्रतिक्रिया रहित होकर होशपूर्वक देखते जायें फिर सहज हो जायें। मन को धीरे-धीरे स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाना होगा। पहले बाहर के प्राणी-पदार्थ से हटाकर अपने शरीर में ही केन्द्रित करते हैं तो मन की चंचलता बहुत कुछ कम हो जाती है और उसे हम अपने अनुसार किसी भी अंग में ले जाते हैं। पहले तो मन इधर-उधर जायेगा फिर धीरे-धीरे हमारे अनुसार चलने लगेगा। यह हमारी पहली सफलता होगी।

इस प्रक्रिया को हम योग निद्रा, रिलेक्शंसन या विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा भी कह सकते हैं। इस प्रक्रिया को से मिनट तक किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में मन को हम जिस अंग पर ले जायेंगे उसी पर ही लक्ष्य देंगे। उस अंग में अंदरूनी जो भी हरकत होगी उसे साक्षीभावपूर्वक देखेंगे। पूरे सिर से पैर तक और पैर से सिर तक अपनी चेतना को हर एक अंग में घुमाएं। पहले धीरे-धीरे यह अभ्यास करें, ख्याल रखें कि हमारा ध्यान प्रत्येक अंग पर जाना चाहिए। यह अभ्यास करते समय यदि सावधान नहीं रहेंगे तो नींद भी आ सकती है, किन्तु पूर्ण सजगता और होश के साथ यह अभ्यास करना है। पहले धीरे-धीरे एक अंग से दूसरे अंग में मन ले जायेंगे। फिर तेजी से भी यह कर सकते हैं। फिर इसे छोड़कर श्वास का साक्षी होना है।

श्वास साक्षी

श्वास हमारे जन्म का साथी है। जब से हमने जन्म लिया और जब तक जीवन रहेगा तब तक श्वास रहता है। श्वास और मन का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मन की चंचल अवस्था में श्वास की गति बढ़ जाती है। अथवा श्वास की गति बढ़ती है, तो मन चंचल हो जाता है। श्वास के साक्षी होने पर हम इस बात को अच्छी तरह समझने लगेंगे। हम जब श्वास के साक्षी होने लगें तब लक्ष्य केवल श्वास पर ही हो, सब कुछ छोड़कर श्वास के साक्षी हो जायें। यदि मन अधिक चंचल होने लगे तो श्वास को गहरा और लम्बा किया जा सकता है जब

स्थिर होने लगे तो फिर श्वास को सहज कर लें। हमको श्वास में भी किसी प्रकार छेड़खानी नहीं करनी है बल्कि जैसा है वैसा ही उसे देखना है। धीरे-धीरे श्वास के साथ मन एक धारा से लग जायेगा और बाहर का सब कुछ विस्मृत हो जायेगा। इस प्रकार जब एकाग्रता सधती जायेगी तब हमारा मन सूक्ष्म होता जायेगा और हम मन को किसी भी पवित्र आलंबन में स्थिर कर पायेंगे। इस प्रकार एकाग्रता के सधने पर हम मन के साक्षी या द्रष्टा हो सकेंगे। हम तटस्थ होकर मन को देख सकेंगे। इसको कम से कम मिनट किया जा सकता है।

साक्षीभाव या द्रष्टाभ्यास

साक्षीभाव या द्रष्टाभाव एक ऊंची साधना है। बिना एकाग्रता का अभ्यास किये इसको कर पाना संभव नहीं है। चूंकि हम एकाग्रता का अभ्यास कर चुके इसलिए हम साक्षीभाव का अभ्यास कर सकते हैं। इसमें किसी प्रकार का आलंबन नहीं लेना है। न ही बाहरी आलंबन और न ही भीतरी। केवल मन का साक्षी होना है। पूर्ण जागरूकता, पूर्ण सजगता के साथ यह अभ्यास शुरू करना है। पूरी सजगता पूरा साक्षीभाव रहेगा तो मन के विचार-प्रवाह बंद रहेंगे या एकदम न्यून हो जायेंगे। हमें साक्षीपूर्वक सजगता से मन को देखना है। कोई विचार आये तो उसमें बहना नहीं किन्तु उसके साक्षी होना है। मन में अनेक प्रकार के संस्कार हैं और उन्हीं संस्कारों के विचार बनते हैं। जो संस्कार अधिक गहरा है, मजबूत है, चाहे वह रागात्मक हो या द्वेषात्मक वह बार-बार विचारों के रूप में हमारे मानस-पटल पर उभरते जायेंगे। मन में ऐसे विचार आते जायेंगे, किन्तु तटस्थ और उदासीन भाव से उसको देखने लगेंगे तो धीरे-धीरे वे संस्कार क्षीण होने लगेंगे और हमारा मन हल्का होने लगेगा और एक समय ऐसा भी आयेगा कि हम एकदम संस्कारों से मुक्त हो जायेंगे। किन्तु यदि हम विचार-प्रवाह से अपने को अलग नहीं कर पाये, उसी में मिल गये, रस लेने लगे तो फिर वे संस्कार मजबूत होने लगेंगे और वही हमारे सुख-दुख के कारण बनेंगे।

यदि हम किसी भी प्रकार के, चाहे वे रागात्मक हों, चाहे द्वेषात्मक, विचारों में रस लेने लगे तो उसे बल मिलेगा और पुराने रागात्मक या द्वेषात्मक संस्कार हैं वे पुष्ट होते जायेंगे, फिर हम उन्हीं संस्कारों के आधीन होकर वैसे कर्म करने लगेंगे, जिससे हमारा कर्म बंधन पुष्ट होगा और हम सुख-दुख के द्वंद्व से अपने को नहीं बचा पायेंगे।

इसलिए तटस्थ होकर साक्षीभाव पूर्वक मन को देखना है। पूर्ण साक्षी दशा में तो मन शांत रहेगा, किन्तु कभी विचार आने लगे तो घबराना नहीं है किन्तु साक्षीपूर्वक देखते जाना है। एक समय ऐसा आयेगा ही कि वे एकदम क्षीण हो जायेंगे और मन स्वच्छ आकाश के समान हो जायेगा।

सद्गुरु विशाल देव ने कहा है—

मन देखत मन लीन नहीं, निज शक्ति लौटारि।

शक्ति जब पावै नहि, तब सो क्षीण निहारि

मन को देखते हुए मन में लीन नहीं होना है किन्तु अपनी शक्ति को लौटाकर स्थिर करना है और जब मन शक्ति नहीं पायेगा तो क्षीण हो जायेगा। मन की यह क्षीण अवस्था, मन की यह शांत अवस्था उच्च अवस्था है। इसमें न किसी प्रकार राग-द्वेष का स्थान रहता है और न ही किसी प्रकार के अन्य विचारों का। वही अपनी वास्तविक स्थिति होती है। ऊंचाई पर पहुंचा साधक लंबे समय तक वृत्तिहीन अवस्था में बैठा रह सकता है। इस अवस्था में राग-द्वेषात्मक द्वंद्व नहीं है इसलिए परम शांति की अवस्था है।

हर एक शांति इच्छुक को इस साधनाभ्यास के माध्यम से साधना करके इस निर्वात-शांत स्थिति को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना चाहिए यही मानवजीवन का लक्ष्य है। यही प्राप्तव्य है।

**दुख, प्रतिकूलता, अपमान मिलने पर भी
तनावमुक्त, सरल और प्रसन्न रहना यही
जीवन जीने की कला है।**

—संत वाणी

परमार्थ पथ

सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

हम मन की जिस शक्ति को जड़-दृश्य के स्मरणों में लगाकर परिणाम में बंधन और दुख पैदा करते हैं; मन की उसी शक्ति को दृश्य-स्मरण से बचे रहने में लगाकर मुक्ति और स्थिर सुख का अनुभव कर सकते हैं। मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण एवं स्वरूपस्थिति की उपलब्धि का मात्र यही एक उपाय है कि मन को दृश्य-स्मरणों से छुड़ाकर अंतर्मुख करते रहें। हम उन्हीं वस्तुओं का स्मरण करते हैं जो अनात्म हैं; अनित्य हैं और सर्वदा के लिए छूट जाने वाले हैं। यह विजाति-स्मरण ही भव-बंधन पैदा करता है। साधक को चाहिए कि वह इस तथ्य को हर क्षण ध्यान में रखे कि दृश्य-विलय ही मोक्ष का साधन है। इसलिए ध्यान-समाधि का अभ्यास बढ़ाना चाहिए और मन को संकल्प-शून्य निर्बीज-समाधि में रखना चाहिए।

“वे दिन प्रभु, कब आइहैं, जब नहीं सम्मुख देह जग। पृथ्वी पय पावक पवन, नभ नदीश नद नखत नग ” यह विदेह मोक्ष की अभिलाषा है। देह और संसार दुखालय है, यह यथार्थता जब चित्त में जम जाती है, तब जड़-दृश्य का राग सर्वथा टूट जाता है। राग टूट जाने पर मन पूर्णतया अंतर्मुख हो जाता है और यही मोक्ष है। मन भ्रम में रहता है तब वह बाहर राग करता है। सेवा, स्वाध्याय, चिंतन तथा ध्यानाभ्यास से जितना-जितना भ्रम मिटता जाता है, मन का राग कटता जाता है। किसी दृश्य-वस्तु से जुड़ाव भ्रम से ही होता है। आत्मा का तादात्म्य केवल आत्मा से ही होना चाहिए। यदि हम आत्मा से हटकर अपना तादात्म्य किसी जड़-दृश्य से करते हैं, तो यह भ्रम के कारण ही। अविद्या-वश मनुष्य जीवनपर्यंत भ्रम में जीता है।

हर मनुष्य को सांसारिक नशा रहता है। किसी को कम किसी को अधिक। संत भी अपने भीतर अनादि से बसे अहंकार को देखता-परखता रहता है। वह कहीं सिर न उठाने पाये, इसके लिए सावधान रहता है। अपने अहंकार को पूरा मारकर ही परमशांति मिल सकती है। राग-द्वेष करने वालों की बातों पर बोधवान ध्यान नहीं देता। वह तो सदैव आत्म-लीनता में रहता है। वह दुनिया के कचड़े में क्यों रहे?

मेरे आत्म-अस्तित्व में न दिन है, न रात है, न मास है, न वर्ष है, न शताब्दी है और न कल्प है। उसमें जड़-दृश्य है ही नहीं। दृश्य-शून्य स्वस्वरूप है। आज की सारी प्रतीति देह छूटते ही खो जायेगी। याद रखो, व्यवहार में किसी के द्वारा तुम्हारे प्रति हुई भूलचूक को भूल जाओ। अपने मन को सबके प्रति शुद्ध रखो। हां, जो कुटिल और दुष्ट प्रकृति के हैं, उनके प्रति हितकामना रखते हुए उनसे दूर रहो। कुसंग से बचकर शांति मिलेगी। शेष लोगों से भूल-चूक में हुई बातें समाप्त हो जाती हैं। वे स्वयं अपनी त्रुटियों पर ग्लानि कर उन्हें सुधारते हैं। खास बात है अपने मन को सब समय प्रपंच से अलग रखना है। सारा संबंध क्षणिक है। कुछ रहने वाला नहीं है। तुम स्वयं सब समय शेष हो।

हर क्षण आत्मलीनता ही सच्चा भजन है। यह भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सावधानी का फल है। मन बीती बातों की याद और भविष्य की कल्पनाओं का रसिक है। जब साधक सब क्षण सब कुछ का विनाश देखता है और स्वरूपस्थिति सार समझता है, और यह भाव हर क्षण बना रहता है, तब प्रगाढ़ आत्मलीनता की स्थिति आती है। संसार की सारी उपलब्धियां असंख्य बार हो चुकी हैं परन्तु असंतोष बना रहा। एक उपलब्धि नयी है और वह है आत्मलीनता। इसी में परमानंद एवं परम शांति है।

मनोविलास, पूर्वस्मृति और भविष्य कल्पना से शून्य मन महा स्नान है। संयत मन के समान कोई उपलब्धि नहीं है। संसार पर अधिकार करके मनुष्य सुख चाहता है जो उसका भ्रम है। न संसार पर अधिकार होगा और जितने पर जितने समय के लिए अधिकार होगा, उससे सच्चा सुख भी नहीं होगा जो स्थिर रहे। परन्तु मन के निर्मल और संयत होने से स्थिर सुख होता है जो हृदय की गहरी शांति है। मन को शुद्ध तथा स्ववश रखना सर्वथा सरल कार्य है। जीवन में एक ही काम सर्वथा सरल है—मन को शुद्ध और संयत रखना, और इसी से सच्चा, शाश्वत सुख होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह दृढ़ प्रतिज्ञ होकर यह काम करे।

* * *

जैसे फिल्म की रील, बाइसकोप की रील, जैसे रेलगाड़ी की छाया, जैसे बदलों के नगर, जैसे बिजली की चमक, वैसे प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का संग है। सब दृश्य भागा जा रहा है। इसी में राग-द्वेष बनाकर मनुष्य बंधन बनाता है और उसके परिणाम में दुख भोगता है। हमारी सावधानी यही होगी कि हर क्षण सारे जड़-दृश्यों से अपने को अलग समझकर असंगता एवं कैवल्य-भाव की दशा में स्थित रहें, राग-द्वेष में न पड़ें, विवाद न करें, अधिक-से-अधिक मौन रहें। हर क्षण तटस्थ, उदासीन एवं साक्षीभाव में रहकर जीवन-यात्रा का बरताव करें। ऐसी रहनी में रहने वाला शांति का सागर होता है। सब तरफ से सब क्षण मुक्त होकर जीना ही जीवन की सार्थकता है।

हर स्थिति में सच्चा फल यह है कि अपना मन हर समय दृश्य-प्रपंच से मुक्त रहे और दूसरों को यथार्थ रास्ता दिखाने का यथाशक्ति काम होता रहे। अंततः न शरीर रहेगा और न हमारे सामने संसार।

* * *

मनुष्यों के भीतर विष और अमृत दोनों हैं। प्रायः लोग अपने विष को बढ़ाते हैं, अमृत को कोई-कोई बढ़ाते हैं। तुम अपने विष को मारो और अमृत को

बढ़ाओ। दूसरों के उबले हुए विष को सह लो और अपने विष को मारते रहो। याद रखो, तुम्हारा संबंध तुम्हारे अपने से है। तुम अपने को हरक्षण ठीक रखो तो तुम्हारे लिए कोई समस्या है ही नहीं। अपना मन राग-द्वेष-रहित निर्मल रखना है। बस, कोई दुख की बात नहीं होगी। दूसरों की झड़प सह लो, स्वयं किसी को झड़प न दो। दुनिया शराबखाना है। यहां झूठी वस्तुओं के अहंकार की शराब पीकर सब मतवाले हैं। उन सबसे बचा-बचा कर चलो।

* * *

मुझ शुद्ध चेतन के अलावा मेरे साथ कुछ रहता नहीं है, तो स्मरण का विषय स्वस्वरूप के अलावा क्या हो सकता है! इस यथार्थ बोध की दृढ़ धारणा हो जाने पर निर्विकल्प समाधि की स्थिति स्वाभाविक हो जाती है। सारा जड़-दृश्य कूड़ा-कचड़ा है; वह चाहे देहों के रूप में हो या पदार्थों के रूप में। इनका स्मरण अविवेक के अलावा कुछ नहीं है। इनका सहज स्मरण हो जाने पर भी इनका कूड़ा-कचड़ापन ही प्रतीत होता है, तो इनमें राग-द्वेष की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। इस प्रकार सब कुछ से टूटा हुआ मन केवल निज स्वरूप में, आत्मा में ही बराबर लगा रहता है। यही स्वरूपस्थिति की सिद्धि है। सब समय स्वरूपाकार वृत्ति जीवन्मुक्ति दशा है।

* * *

पवित्र रहनी है किसी से कुछ न चाहना। जब हम कुछ नहीं चाहते हैं तब किसी को दुख नहीं देते हैं। सब जीव दुखियारे हैं। उनको अपनी तरफ से दुख देना कहां तक ठीक है। जो किसी से कुछ नहीं चाहता वह किसी को दुख क्यों देगा? सारे राग-द्वेष चाहना से निकलते हैं। चाहना छोड़ने वाले का सारा उपद्रव शांत हो जाता है। निर्वाह बिना चाहने से होता है। उसके लिए तो केवल परिश्रम और प्रारब्ध सहयोगी हैं। उनसे आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप होती जाती है। विवेक से इच्छाओं को जीतने वाला पूर्ण अहिंसा से जीता है, अतः शाश्वत शांति प्राप्त करता है।

बीजक चिंतन

अपने आप को वासनाओं से मुक्त करो

शब्द-

बन्दे करिले आप निबेरा

आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहिं तेरा कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा

शब्दार्थ—बन्दे= गुलाम, वशवर्ती। आप= स्वयं। निबेरा= निबेड़ा, छुटकारा, मोक्ष। ठौर= स्थान, जगह, स्थिति। काल= वासना, अज्ञान, कल्पना, मृत्यु। घेरा= जाल, फैलाव, विस्तार, आक्रमण।

भावार्थ—हे बंधमान जीव! तू अपने आप का स्वयं छुटकारा कर जीवन रहते ही अपने आप को समझ कि मैं कौन हूँ तथा अपने आप की स्थिति कर! तू इसे समझ कि शरीर न रहने पर तेरा निवास कहां होगा हे मनुष्य! यदि तू इस सुनहले समय में नहीं सावधान हुआ तो समझ ले कि अन्त में तेरा कोई सहायक नहीं होगा कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो, सुनो, काल का आक्रमण जबर्दस्त है

व्याख्या—सद्गुरु कबीर ने उक्त चार पंक्तियों में मनुष्य-जीवन का सार कह दिया है। इतना ही सोचा-समझा जाये तथा आचरण में उतार लिया जाये तो बेड़ा पार हो जाये। वे इस शब्द में पहली बात कहते हैं “बन्दे करिले आप निबेरा।” इस छोटी पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात है कि तुम अपने आप का स्वयं छुटकारा कर लो। इसका मतलब है कि हम बंधे हैं, तभी हमें छुटकारा करने की राय दी जाती है। साहेब इसकी याद सम्बोधन के शब्द में ही “बन्दे” कहकर दिला देते हैं। बन्दे का अर्थ ही है जो वशवर्ती हो, बंधा हो, गुलाम हो। जैसे विनम्रता के लिए भी बड़े पुरुषों के सामने अपने आप

को बन्दा, दास, सेवक, गुलाम कहा जाता है। परन्तु दोनों में भाव का बड़ा अन्तर होता है। जो शरीर तथा संसार की वासनाओं, अहंता-ममताओं में बंधा है, तथा जो अपनी विनम्रता के लिए अपने आप को बन्दा कहता है, दोनों में कोई समानता ही नहीं है। कितने लोग ‘दास’ शब्द गुलामी का सूचक मानकर अपने नाम में नहीं लगाते। यह उनकी भावना है। जैसे यह समझा जा सकता है कि किसी के नाम में दास न होने से वह मुक्त नहीं होता तथा किसी के नाम में दास जुड़ा होने से वह बंधमान नहीं होता।

सद्गुरु कबीर बन्दे कहकर हमें संकेत करते हैं कि तुम वासनाओं के बन्धनों में बंधे हो। उस पर ध्यान दो और उससे अपने आप को छुड़ाओ। ध्यान रहे, तुम्हारे बन्धनों को तुमसे अलग कोई दूसरा नहीं छुड़ा सकता। बन्धन मन के हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंता, ममता, वासना ये ही सब बन्धन हैं और ये सब मनोगत हैं। इन्हें हमने ही बनाये हैं। इन्हें हम ही मिटा सकते हैं। बाहर के बन्धन होते रस्सी, जंजीर एवं कारावास के तो दूसरा छुड़ा सकता था। ये तो मन के बन्धन हैं जिनके निर्माता हम हैं, साक्षी हम हैं, और हम ही इन्हें नष्ट भी कर सकते हैं। संत-गुरु अपनी वाणी तथा उच्च आदर्श से हमें केवल प्रेरणा दे सकते हैं। उनकी प्रेरणा को भी हमें ही समझना तथा ग्रहण करना पड़ेगा। हमारा कोई मकान बना सकता है, भोजन बना सकता है, बिस्तर बिछा सकता है और अन्य हमारे कई काम कोई दूसरा कर सकता है, परन्तु हमारे मन के बन्धन कोई दूसरा नहीं मिटा सकता। इसे हमें ही मिटाना है इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे वासनाओं में बंधा जीव! तू इन वासनाओं से अपने आप को छुड़ा ले।

“आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा।” इस पंक्ति में सद्गुरु ने तीन बातें कही हैं। पहली बात है जीवन रहते-रहते अपने आप को देख लो, समझ लो कि तुम कौन हो। हम सबको देखते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं देखते। अपने आपको देखने

का मतलब है अपने आपको समझना। हम सारे संसार को समझने की चेष्टा करते हैं; चिकित्सा, व्याकरण, संगीत, भौतिकविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान, नाना कला-कौशल, सबको समझने का प्रयास करते हैं, केवल यही नहीं समझते कि 'मैं कौन हूँ'। और इसके समझे बिना हमारा सारा ज्ञान अन्त में काम नहीं देता। हमें दूसरा ज्ञान परमशांति नहीं दे पाता। अपने आपको दो ढंग से समझा जाता है—एक है अपने मन-स्वभाव को समझना और उन्हें सुधारना तथा दूसरा है अपने परिनिष्ठित चेतनस्वरूप को समझना कि मैं जड़दृश्यों से पृथक् शुद्ध चेतन हूँ, असंग हूँ, अकेला हूँ, पूर्णकाम एवं पूर्णतृप्त हूँ।

इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर ने दूसरी बात कही है "आप ठौर करु"। अपना ठौर करना, अपने लिए जगह बना लेना बहुत बड़ी बात है। जब कोई पढ़ाई में, नौकरी में, व्यापार में, खेती में, राजनीति में, फिल्म में, खेल में, संगीत में, पत्रकारिता में, साहित्य में या कहीं भी किसी क्षेत्र में अपनी जगह बना लेता है, तब वह अपने क्षेत्र में सफल माना जाता है। परन्तु जीवन की अंतिम सफलता के लिए हमें अपना ठौर खोजना होगा, हमें जगह बनानी होगी। यदि भटकते हुए आदमी को एक स्थायी मकान मिल जाये तो उसकी खुशी वही जान सकता है। हमारे भटकते हुए मन की जगह कहां है, वह कहां स्थित हो सकता है, जहां से फिर न उठना पड़े! इस जगह की हमें खोज करनी चाहिए। हमें अपनी जगह बनानी चाहिए। यह जगह है मेरी अपनी चेतना, मेरी अपनी आत्मा। किसी के पास स्थायी घर न हो तो वह जहां-तहां भटकता है। यदि उसे स्थायी घर मिल जाये तो उसका भटकना छूट जाता है। हमारा मन इसलिए भटकता है कि उसे स्थायी घर नहीं मिला है। जब अपनी चेतना के स्थायी घर का परिचय हो जायेगा, तब कहीं नहीं भटकेगा। "आप ठौर करु" अर्थात् स्वरूपस्थिति करो, अपनी आत्मा में लीन होओ। तुम्हारी स्थायी जगह तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। तुम्हारा चेतनस्वरूप ही तुम्हारा परमाश्रय है।

इस पंक्ति में तीसरी बात है "मुये कहाँ घर तेरो" मर जाने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा! मनुष्य को सबसे बड़ा भय और अनिश्चितता यही है कि मर जाने के बाद क्या होगा! मृत्युकाल में, किसी प्रकार शारीरिक कष्ट हो तो अलग बात है, अन्यथा कोई कष्ट नहीं होता। यदि उस समय मन में कोई कष्ट होता है तो केवल इसलिए कि यहां का अपना माना हुआ सब छूट रहा है तथा मरने के बाद की स्थिति का पता नहीं है। इसीलिए धार्मिकों ने कहा है कि तुम अच्छा काम करो तो मर जाने के बाद यहां से भी अच्छी जगह तुम्हें मिलेगी। स्वर्गलोक एवं मोक्षलोक की कल्पना इसी सांत्वना के लिए है। स्वर्ग और मोक्षलोक की कल्पना तो केवल रूपक है, परन्तु उसमें छिपी बातें सत्य हैं। जीव जड़ तत्त्वों से विलक्षण होने से अमर है। वह इस शरीर के मिट जाने पर भी नहीं मिटता। यदि वह वासनाओं के अधीन है तो जैसे उसके अच्छे-बुरे कर्म होंगे वैसे उसे आगे जन्मांतर में फल मिलेंगे। सत्कर्म करने वाले को कोई भय नहीं है। शरीर छूट जाने के बाद भी उनके लिए सुख का साम्राज्य है। आज अच्छे कर्म करने वाला जन्मांतर में भी सुखी रहेगा। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जो हम आज हैं वही कल हैं। आज हमें ठीक होना चाहिए तो कल हम अपने आप ठीक रहेंगे। यदि जीव ने वासनाओं का त्याग कर दिया है, यदि वह आज ही सारी वासनाओं से मुक्त है, तो उसे मर जाने के बाद की चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं है कि उसका घर तब कहां होगा। बोधवान तो जानता है कि अपना स्थायी घर अपनी स्वरूपस्थिति है। जब तक हम अपना घर देह समझते थे तब तक तो भय था कि वह छूट जायेगी, परन्तु जब यह समझ आ गयी कि अपना घर अपनी चेतना है, अपनी आत्मा है, तब अब अपना घर छूटने का भय कहां रहा! देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थ तो छूटते हैं, परन्तु व्यक्ति से उसकी अपनी आत्मा कभी नहीं छूटती। ज्ञानी पुरुष समझता है कि अपना चेतन घर, अपना आत्माराम घर, अपना पारखप्रकाश घर मिल गया है, अब यह कभी छूटने वाला नहीं है। अतएव साहेब

कहते हैं कि मरने के बाद तुम्हारा घर कहां होगा इसे समझो। जो अपने अविनाशी चेतन-धाम को पा गया उसे मरने के बाद की चिन्ता मिट गयी। जो अपने आत्माराम में रम गया उसका शरीर कुछ दिन बना रहे या चाहे जब छूट जाये उसके लिए दोनों बराबर हैं। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एकरस और अमर है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्भय होता है। उसे भूत, भविष्य की चिन्ता नहीं होती।

“यह औसर नहीं चेतहु प्राणी, अन्त कोई नहीं तेरा।” यह मार्मिक चेतावनी है। आज हमारा सुनहला अवसर है। साधना के लिए स्वस्थ शरीर है, साधु-संगत मिली है, अच्छे साहित्य मिले हैं, पथ-प्रदर्शक शरणरक्षक गुरु मिले हैं, समझ भी कुछ-न-कुछ मिली है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए। हमें अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए और सारी जड़-वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना चाहिए। सारे भय जड़ पदार्थों के राग का फल है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि दृश्य-जगत में हमारी अहंता-ममता एवं वासना लगी है, यही हमारे भय का कारण है। हमें तत्काल सारी अहंता-ममता को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए, जिससे हमारा सारा भय छूट जाये और कच्ची स्थिति से मुक्त होकर पक्की दशा में पहुंच जायें। यदि हमने यह काम अभी नहीं कर लिया तो अन्त में हमारा साथी कोई नहीं होगा। जब शरीर साथ नहीं देता तब अन्य कौन साथ देगा!

“कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा।” सद्गुरु कहते हैं कि हे संतो! काल का घेरा बड़ा कठिन है। यहां ‘काल’ शब्द में श्लेष है। इसमें दो अर्थ चिपके हैं। काल का अर्थ है अज्ञान और काल का अर्थ है मौत। इस अज्ञान का घेरा, अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। जीव थोड़ा भी असावधान हो तो तुरंत अज्ञान के जाल में पड़ जाता है; क्योंकि अज्ञान का विस्तार बड़ा कठिन है। यह कोई साधक ही समझ पाता है कि उसे क्षण में ही अज्ञान कहां ले जाकर पटक दे सकता

है। इसलिए वह सावधान रहता है। हमारे मन का अज्ञान हमें क्षण-क्षण भव में डुबाने के लिए मानो तैयार बैठा है। हमें उससे सतत सावधान रहना चाहिए। साहेब ने साखीग्रंथ में कहा है “मन को मिरतक जानि के, मत कीजै विश्वास। साधु तहाँ तक भय करें, जहाँ तक पिंजर सांस।” अतएव साधक वही है जो अन्तिम सांस तक सतत सावधान रहता है।

दूसरा काल मौत है। इसका भी विस्तार कठिन है। यह इस शरीर के जन्मकाल से इसे निरन्तर मार रहा है। इस शरीर को काल निरन्तर निगल रहा है। यह इसे कब पूरा निगल लेगा, इसे कोई नहीं जानता। इसीलिए अपने कल्याण का काम अति शीघ्र कर लेना चाहिए। घर में आग लगने पर कुआं खोदने का उपक्रम करना बेकार होगा। जब तक जरा अवस्था दूर है, मौत नहीं आयी है, अपने कल्याण का काम कर लो। शीघ्रातिशीघ्र सारी वासनाओं को छोड़कर स्वरूपस्थिति कर लो। यही अपने आप को संसार से छुड़ाना है। यही अपने आप का निबेड़ा करना है। अहंता-ममता एवं वासना ही बंधन है, इसको मिटा देने पर जीव मुक्त है।

भवसागर से तरता जा

रचयिता—हीरेन्द्र दास

तज के विषय-विकार, स्वरूप निज जपता जा।
क्या लाया है, क्या ले जायेगा, यही विचार तू करता जा
देख जवानी कुटुम्ब-कबीला, इनमें न तू फँसता जा।
कर सत्संग गुरु-संतों का, ज्ञान निज में भरता जा
मन-बच और काया से, सद्कर्म तू करता जा।
कर ले भजन गुरु का बन्दे, अन्त समय तू हँसता जा
मात-पिता, गुरु-संत की सेवा, खुशी-खुशी तू करता जा।
स्वाध्याय अरु ध्यान-चिंतन से, अपनी झोली तू भरता जा
बुरी आदत और कुसंग से, हर घड़ी तू डरता जा।
मोह-माया का पहाड़ लांघ के, भवसागर से तरता जा

संत कबीर

लेखक—भावसिंह हिरवानी

सैकड़ों वर्षों तक मुस्लिम शासकों के अत्याचार और शोषण के कारण हिन्दुस्तान की स्थिति निरंतर बदतर होती चली गई थी। इस दौरान कई बार बाहरी आक्रमणकारियों ने यहां के मंदिरों को लूटा, हत्याकांड किया और धन-दौलत के साथ लोगों को गुलाम बनाकर अपने साथ ले गये। महमूद गजनवी ने ई. से ई. के बीच यहां बार आक्रमण किया था। फिरोजशाह तुगलक की मृत्यु के बाद दिल्ली के तख्त पर आसीन होने वाले उनके सभी उत्तराधिकारी निकम्मे और अयोग्य थे। परिणामस्वरूप चारों ओर अव्यवस्था फैल गई जिसका लाभ उठाकर जौनपुर, गुजरात, मालवा, खानदेश, पंजाब, राजस्थान, ग्वालियर, बयाना, कालपी आदि प्रांत के शासकों ने अपने को दिल्ली की अधीनता से मुक्त कर लिया।

तुगलक वंश का अंतिम शासक महमूदशाह जब ई. को दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तो सर्वत्र अराजकता की स्थिति थी, जिसकी वजह से संपूर्ण भारत में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था पूरी तरह चरमरायी हुई थी। केन्द्रीय शक्ति कमजोर होने के कारण प्रांतीय शासन निरंकुश हो गये थे और मनमानी करने लगे थे। संगठन एवं तालमेल के अभाव में कृषि के साथ व्यापार-व्यवसाय भी चौपट हो गया था। स्थिति इतनी भयावह और विषम थी कि आम लोगों का जीना दूभर हो गया था। तमाम कठिनाइयों के बावजूद उन्हें अपने जीवन निर्वाह की सामग्री सुलभ नहीं थी। इस तरह लोग अपने मूलभूत अधिकार से भी वंचित थे। यहां तक कि असहाय और गरीब व्यक्ति अपने लिए दोनों वक्त भोजन जुटा पाने में असमर्थ था। आम जनता भुखमरी और जिल्लत की जिंदगी जीने को मजबूर थी।

इसके अलावा इस वक्त धार्मिक उन्माद और कट्टरता अपनी चरम स्थिति पर थी। इस्लाम को

राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण वहां निरंकुशता हावी हो गई थी। वहीं पूरे विश्व को आर्य बनाओ का उद्घोष करने वाले हिन्दू, जातिगत संकीर्णता और वर्णव्यवस्था के दलदल में पूरी तरह डूब चुके थे। लंबे समय तक मुस्लिम शासकों के द्वारा हिन्दुओं को प्रताड़ित किये जाने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्यता की खाई अत्यंत गहरी हो गई थी। जिसके कारण वक्त-बेवक्त कहीं भी हिन्दू-मुस्लिम फसाद होता ही रहता था। हिन्दुओं में ही शैव-वैष्णव अपना-अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए आपस में लड़-मर रहे थे।

भारत के अन्य नगरों की तरह पंडितों की नगरी काशी भी इस झंझावात से बुरी तरह आन्दोलित थी। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही धर्मों के ठेकेदार पंडे-पुजारी एवं मुल्ला-मौलवी सामान्य जनता का हर तरह से शोषण करते थे। जबकि आर्थिक मंदी की वजह से उनकी कमर पहले ही टूट चुकी थी।

इसी काशी जनपद के एक छोर में बसे जुलाहों की बस्ती के अधिकांश परिवार भी इस समस्या से जूझ रहे थे। उनके पास बुने कपड़ों के थान घरों में धरे हुए थे लेकिन बाजार में कोई खरीदार नहीं था। नगर के महाजन जो उनके स्थायी क्रेता थे वे भी और खरीदी करने से मना कर चुके थे। क्योंकि उनके पास पहले से ही खरीदे कपड़ों के थान ज्यों के त्यों पड़े हुए थे। इस विकट स्थिति में इन जुलाहों को समझ नहीं आ रहा था कि करें तो क्या करें? इन्हीं में एक परिवार नीरू-नीमा का भी था जो इस मुसीबत से निजात पाने के लिए छटपटा रहा था। नीमा अपने शौहर नीरू को सबेरे ही कपड़े का थान लेकर बाजार में बेच आने को कह चुकी थी। मगर नीरू टाल-मटोल करता घर में पड़ा हुआ था। एक बार उसने विरोध में कहा भी था कि तुम मुझे

बेकार में थकाने के लिए भेज रही हो। मुझे पता है वहां कोई खरीदार नहीं मिलेगा, फिर अपना-सा मुंह लेकर गधे की तरह पीठ पर यह थान लादे मुझे वापस लौटना पड़ेगा। अरे, जहां खाने को लाले पड़े हों वहां कोई कपड़ा खरीदकर क्या करेगा?

उस वक्त नीमा आपसी मनमुटाव बढ़ने के डर से कुछ नहीं बोली थी। मगर दोपहरी ढलने के बाद वह फिर नीरू के सामने जाकर खड़ी हो गई थी। उसे कल की चिंता सता रही थी। सूत न होने से आज का दिन बेकार गया था और नीरू बाजार नहीं गया तो कल भी चरखा नहीं चलेगा। नीरू उसे देख मुस्कराया था। वह जानता था कि नीमा उसे फिर बाजार जाने के लिए कहेगी और वापसी में घर-गृहस्थी के लिए कुछ सौदा लाने को भी ताकीद करेगी। उसे मुस्कराता देख नीमा हंसकर बोली थी, “लगता है, आज घर से बाहर निकलने का इरादा नहीं है।”

इस पर नीरू हंसने लगा, बोला “बिलकुल है, मगर तुम्हारे साथ। तुम कुछ खरीदना चाहती थी न? चलो आज चलकर खरीद आते हैं।”

जवाब में नीमा हाथ मटकाती हुई बोली थी, “कह तो ऐसे रहे हो जैसे कोई धन्ना सेठ हो। बताओ तो गांठ में कितने दाम रखे हैं, जो मेरे लिए सौदा खरीदोगे।”

अपनी बीवी का यह उलाहना सुन नीरू और खुश हो गया था, “अरे, गांठ में दाम नहीं हैं तो क्या हुआ? उधारी में खरीद लेंगे। जब थान बिक जायेंगे तो उनके रुपये अदा कर देंगे। हम कोई ऐरे-गैरे नहीं हैं। महाजनों के बीच हमारी साख है बीवी जी। बस, एक तुम्हीं हो जो हमारी जरा भी इज्जत नहीं करती। फिर महाजन से पिछला बकाया भी तो लेना है। लुगाई आया देख कुछ तो शर्म करेगा वह। कुछ इस थान के पेटे भी ले लेंगे।”

इस तरह दोनों मियां-बीवी के बीच बहुत देर तक नोक-झोंक होती रही। आखिर घर के कितने ही काम पड़े होने और खाना बनाने में देरी होने की बात कहकर नीमा उससे पीछा छुड़ाने लगी। लेकिन आज नीरू भी उसे साथ ले चलने के लिए कमर कस लिया था। उसने

नीमा के सारे तर्कों को काटकर निरुत्तर कर दिया था कि तुम्हारे काम तो कभी खत्म होने वाले नहीं हैं, वैसे भी आज पूर्णिमा की रात है। वापस लौटने में देरी हो गई तो कोई परेशानी नहीं होगी। और खाने-पीने के लिए तो सारी रात पड़ी है।

फिर भी नीमा अपने शौहर की बातों से सहमत नहीं थी। वह इस दुर्दिन में कर्ज लेकर अपने शौक पूरा नहीं करना चाहती थी। जब उसने इस पर अपनी असहमति का इजहार किया तो नीरू उससे अपनी जमा पूंजी ले चलने को कहने लगा। उसका तर्क था कि ये रुपये आखिर किसके लिए और क्यों जोड़कर रखे? न उनके आगे कोई है, न पीछे। वे कुछ देर के लिए भावुक हो उठे थे। निकाह हुए बीस साल से अधिक हो गये हैं पर एक औलाद का मुंह देखने को भी वे तरस गये। और अब कोई उम्मीद भी बाकी नहीं है।

यह बात तो नहीं थी कि औलाद नहीं हुई तो वे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। उन्होंने भी हर निःसंतान दंपति की तरह जिसने जैसा कहा, वैसा ही किया। दवा-दारू से लेकर बैगा-ओझा से झाड़-फूंक कराने से भी पीछे नहीं रहे। पर न दवा काम आया न अल्लाह ने उनकी दुआ-मांग कबूल की। शायद ऊपर वाले के पास भी उन्हें देने के लिए कोई औलाद नहीं थी। दुखी होकर नीमा नीरू को दूसरा निकाह कर लेने को भी कह चुकी थी कि शायद उसके भाग्य से ही उन्हें औलाद मिल जाय।

मगर नीरू इसके लिए सहमत नहीं हुआ था। वह नीमा के हृदय की पीड़ा को समझता था। कोई औरत अपना अधिकार यूं ही नहीं छोड़ना चाहती। बांझ होने का दंश उसके हृदय में शूल की तरह न चुभता तो शायद वह ऐसा कभी नहीं कहती। पर क्या संतान होना या न होना उसके वश की बात थी। फिर यदि दूसरे निकाह के बाद भी औलाद नहीं हुई तो? यह प्रश्न भी उसके सामने मुंह बाये खड़ा था। अतः उसने तय कर लिया था कि चाहे वे निपूते ही मर जायें, परंतु वह नीमा को दुख पहुंचाने वाला यह काम हरगिज नहीं करेगा।

उसने नीमा को बड़े प्यार से समझा दिया था कि जो नहीं है उसकी चाह में दुखी होना बुद्धिमानी नहीं है। जो है उसी में संतुष्ट होकर जीने में ही जीवन की सार्थकता है। इस पर नीमा मुस्कराकर दार्शनिक अंदाज में बोली थी, “इतना तो मैं भी समझती हूँ।”

“तो फिर किस बात का सोच। चलो, थान देकर गंगा घाट तक घूम आते हैं।” नीरू का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा था और वे दोनों थान उठाकर घर से बाहर निकल पड़े थे। जेठ की उमस से बेहाल शरीर को बाहर निकलते ही पश्चिम से चलने वाली हवा छूकर बहने लगी तो मन प्रसन्नता से भर उठा। पूर्णिमा का चांद आकाश में क्षितिज से गज भर ऊपर चढ़ चुका था। और उसके निर्मल स्निग्ध प्रकाश से पूरी काशी नगरी नहा रही थी। वह खुशी से चहकती नीरू की बांह पकड़े चली जा रही थी। सब कुछ नैतिक्य होते हुए भी न जाने क्यों आज उसे सारा संसार अलौकिक जान पड़ता था। नगर के चौराहों पर जलते लैंप पोस्ट से बिखरती प्रकाश की पीली किरणों को देख लगता था मानो आकाश से तारे काशी के चौराहों पर उतर आये हों।

नीमा को साथ लेकर नीरू महाजन की दुकान में प्रवेश किया तो महाजन मुस्कराने लगा। नीरू थान रखते ही बोला था कि वह आज नीमा के लिए कुछ सौदा लेना चाहता है। इसलिए पिछला बकाया के साथ इस थान के पेटे भी कुछ दाम ले जायेगा तो महाजन ने खुशी-खुशी उसके हाथों में रोकड़ा रख दिया था। फिर दोनों प्रफुल्लित हो वहां से बाहर निकल आये थे। अब नीरू हंसते हुए नीमा की ओर देखकर डींगे हांकने लगा, “देखा, मैं न कहता था कि महाजन हमारी बहुत इज्जत करता है। बिना एक शब्द बोले सारा दाम दे दिया।” जवाब में नीमा हंसती हुई उसके बराबर चलती रही।

कुछ देर बाजार में खरीदारी करने के बाद वे गंगा घाट की ओर चले गये थे। काशी की संकरी गलियों में भक्त-श्रद्धालुओं का तांता लगा हुआ था। कुछ गंगा घाट की ओर जा रहे थे तो कुछ वापस लौट रहे थे। घाट की सीढ़ियों पर अब भी श्रद्धालुओं की भीड़ जमी हुई थी।

कल-कल करती गंगा की धारा मंद गति से बह रही थी। उसकी लहरों पर नाचती चन्द्रमा की सुनहरी किरणों से समूची जलराशि अथाह स्वर्ण भंडार होने का भ्रम उत्पन्न करती थी। चांदनी रात में गंगा का सौंदर्य दर्शन करने आये अनेक लोग यत्र-तत्र बैठे मंत्र-मुग्ध हो स्वर्गिक आनंद की अनुभूति में डूबे हुए थे। कई नौकाएं गंगा की धारा में इधर-उधर दूर-दूर तक तैरती दिखाई दे रही थीं। इनमें श्रद्धालुओं के अतिरिक्त अधिकांश नव-विवाहित जोड़े भी थे जो पूर्णिमा में नौका विहार का आनंद ले रहे थे।

नीरू-नीमा दूर एकांत जगह पर जाकर बैठ गये और मंद गति से बहती हवा के साथ उठती-गिरती लहरों को देखने लगे। यहां से गंगा घाट का सारा विहंगम दृश्य उन्हें साफ-साफ दिखाई दे रहा था। कुछ लोगों को गंगा की आरती-पूजा करते देख नीमा का मन उदास हो गया था। वह दुखी स्वर में बोली थी, “कितनी अजीब बात है न, दूर-दूर से लोग अपनी मनोकामना पूर्ति की आस लिये यहां आकर गंगा की आराधना करते हैं और पवित्र स्नान करके वापस लौट जाते हैं। पर हम लोग गंगा किनारे रहते हुए भी प्यासे ही बैठे हैं।”

“हां, यह सच है नीमा, हिन्दुओं की मान्यता है कि इस मुक्तिधाम काशी में स्वयं भगवान शिव निवास करते हैं। यहां मरने वाला सीधा स्वर्ग जाता है। और इस पतितपावनी गंगा में एक बार स्नान कर लेने से करोड़ों जन्मों के पाप धुल जाते हैं। तथा श्रद्धालुओं की सारी मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं।”

“मगर हम भी तो यहां कई बार पुण्य तिथियों में पुण्य स्नान कर चुके हैं फिर भी आज तक हम एक औलाद के लिए तरस रहे हैं।” नीमा के हृदय की पीड़ा उसकी आवाज में साफ परिलक्षित हो रही थी।

“क्योंकि हम कोरी जुलाहे हैं। हम हिन्दू नहीं हैं।” नीरू ने समाधान किया था।

“तो क्या गंगा जी भी जाति-पांति पहचानती हैं।” नीमा तपाक से बोली थी।

“और नहीं तो क्या? ऐसा नहीं होता तो हमारी भी औलाद नहीं हो जाती?” कहते हुए नीरू उठ खड़ा हुआ था। “चलो, अब तुम्हें लहरतारा ले चलता हूँ। वहीं से होते हुए घर लौटेंगे। इस खिली चांदनी में तुम लहरतारा का नजारा बस देखती रह जाओगी। कुमुदनी और कमलदल बरबस मन को अपनी ओर खींचने लगते हैं।”

सुनकर नीमा के मन का क्षोभ काफूर हो गया था। वह प्रफुल्लित बदन उठ खड़ी हुई। फिर दोनों धीरे-धीरे चलते हुए गंगा घाट से बाहर निकल आये थे। अब वे लहरतारा की ओर चले जा रहे थे। चांद आकाश में बहुत ऊपर चढ़ आया था। नीले आसमान में दूर-दूर तक कहीं बादल का नामोनिशान भी नहीं था। चारों ओर टिमटिमाते सितारे मानो खुशी से झूम रहे थे। पश्चिम से बहने वाली हवा की गति पहले से तीव्र हो गई थी और उनके शरीर को गुदगुदाती हुई बह रही थी।

जब वे लहरतारा पहुंचे तो वहां का अप्रतिम सौन्दर्य देख चकित रह गये। कमल-दल हवा के झोंकों के साथ ऐसे हिल रहे थे मानो किसी को दुलार रहे हों। चन्द्रमा की किरणें लहरतारा के पानी पर जैसे नाच रही थीं। दोनों ठगे-से खड़े वहां के प्राकृतिक दृश्य में खोये हुए थे कि एकाएक उन्हें किसी बच्चे के रोने की आवाज ने चौंका दिया। वे विस्मित हो एक दूसरे का मुंह देखने लगे। कुछ देर की चुप्पी के बाद आवाज फिर आयी थी। नीरू हैरान होकर बोला था, ‘नीमा, यहां तो कोई दिखाई नहीं देता। फिर यह बच्चे के रोने की आवाज कहां से आ रही है?’

नीमा अचंभित खोजी नजरों से चारों ओर देखने लगी। इस वीरान में बच्चे के रोने की आवाज? उन दोनों को कुछ समझ नहीं आ रहा था। हैरत में डूबी नीमा ने नीरू का हाथ पकड़ लिया। फिर दोनों धीरे-धीरे आवाज की दिशा में बढ़ने लगे। सीढ़ी का अंतिम पायदान काफी चौड़ा था। वहां कमल के पत्तों पर लेटा एक बच्चा कभी एकाएक चुप हो जाता तो कभी रोने लगता था। यह हैरत अंगेज दृश्य देख उनकी आंखें फटी की फटी रह गईं। वे दोनों कुछ क्षण तक अपलक उस

बालक को निहारते रह गये। अधीर नीमा उसे उठाने को झुकी तो नीरू ने झट उसकी बांह पकड़कर खींच लिया, “नहीं नीमा, पता नहीं यह किसका बच्चा है? किस जाति-गोत्र का है। हम गरीब जुलाहे हैं। इस बच्चे को लेकर किसी मुसीबत में फंस गये तो कौन हमारी सहायता करेगा?”

नीरू की बातों से हक्की-बक्की हो गई नीमा परेशान हो उठी, “तो क्या हम इस बच्चे को यहीं इस हाल में छोड़कर चले जायेंगे?”

“मगर...मगर नीमा, यह पंडितों की नगरी है। यहां बात-बेबात दंगे-फसाद होने लगते हैं। कहीं किसी ने हम पर उल्टे-सीधे इलजाम लगा दिये तो हम क्या करेंगे?” नीरू के चेहरे पर चिंता और परेशानी की लकीरें उभर आयीं।

“चाहे कुछ भी हो, हम इस बच्चे को यहां अकेले छोड़कर नहीं जायेंगे।”

नीमा की दृढ़ता देख नीरू कुछ क्षण के लिए सोच में पड़ गया फिर वह बोला, “फिर भी ठहरो, मैं आसपास देख आता हूँ। कोई नहीं होगा तो जरूर ले चलेंगे।”

नीरू सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंच गया और जोर-जोर से आवाज देने लगा, “अरे कोई है?” लेकिन लहरतारा की उस नीरवता में नीरू की आवाज प्रतिध्वनित होकर गूंजने लगी। पता नहीं कहीं कोई था या नहीं, पर किसी ने जवाब नहीं दिया था।

अब नीरू सीढ़ियां उतरकर नीचे आ गया था। नीमा के साथ बच्चे के करीब पहुंचकर नीरू ने खुदा की इबादत में अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये, “या अल्लाह, तेरी इनायत कबूल है। मेरा अपराध माफ करना।” फिर झुककर उसने बच्चे को उठा लिया और नीमा की गोद में डाल दिया।

“ले संभाल, आज से तू इसकी अम्मा हुई और मैं अब्बा हुआ।” इसके साथ उन दोनों के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे थे। उसी वक्त हवा का एक हल्का झोंका उन्हें दुलारता हुआ चला गया था। उन्हें लगा था उनके इस निर्णय से प्रकृति हर्षित होकर अपनी खुशी का इजहार

कर रही है। ऊपर देखा तो चांद मुस्कुराता नजर आया और चांदनी खिलखिलाकर हंस रही थी। इस वक्त उन्हें लग रहा था मानो इस संसार में चारों ओर खुशियां ही खुशियां बिखरी हुई हैं।

“सचमुच अल्लाह बड़ा कारसाज है। आज बिन मांगे ही उसने हमारी झोली में वह बेशकीमती हीरा डाल दिया, जिसके लिए हम बीस वर्षों से तरस रहे थे।” नीमा बोली और खुशी-खुशी सीढ़ियां चढ़ने लगी। इस वक्त उनकी चाल में अतिरिक्त चपलता आ गई थी। उनके अंग-प्रत्यंग से खुशी फूट पड़ती थी मानो अनायास ही उन्हें कुबेर का खजाना मिल गया हो।

घर पहुंचते ही उन्होंने बच्चे को रूई से बने गर्म गद्दे पर सुला दिया था। अब उन्हें दूध की चिंता सताने लगी। इतनी रात गये कहां जायें, क्या करें? वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे। उन दोनों को भी भूख लग आयी थी। नीमा भोजन-पानी की व्यवस्था में जुट गई। तभी नीरू को बशीरा की याद आ गई थी। उसकी बकरी दूध दे रही थी। वह फौरन लोटा लेकर बशीरा के घर जा पहुंचा। बशीरा खा-पीकर सो चुका था। दरवाजा खटखटाने की आवाज से उसकी नींद खुल गई। कच्ची नींद में आंखें मलते हुए उसने दरवाजा खोला तो आधी रात में नीरू को आया देख हैरान रह गया।

“क्या बात है नीरू, इस वक्त कैसे आना हुआ? अन्दर आओ।” बशीरा ने कहा, फिर दोनों भीतर चले गये।

अब तक बशीरा की बेगम ढिबरी जलाकर तिपायी पर रख चुकी थी। दोनों आस-पास पड़ी मचोली पर बैठ गये। बशीरा के चेहरे पर जिज्ञासा के भाव थे मगर नीरू के चेहरे से प्रसन्नता पसीने की बूंद की तरह टपक रही थी। वह हर्षातिरेक में डूबा हकलाते हुए कहने लगा, “वो क्या है बशीरा, मुझे थोड़ा-सा दूध चाहिए। बच्चे के लिए। लहरतारा में पड़ा मिला तो ले आया। अब उसे सारी रात भूखा तो नहीं रख सकता न। इसीलिए आया हूं।”

“क्या कहा? लहरतारा में पड़ा मिला?” बशीरा सोच में डूब गया था।

“हां, मगर क्या बात है बशीरा? तुम इस तरह खामोश क्यों हो गये? मैंने कुछ गलत कर लिया या फिर तुम्हारे घर में दूध नहीं है।” नीरू अचकचा गया था।

“यह बात नहीं है नीरू। मैं सोच रहा हूं कि अचानक आज तुम इतने बड़े कैसे हो गये? बिना भेदभाव किये एक अनजान बच्चे को उठा लाये। तुमने वो काम किया है बिरादर कि सुनकर हमारा सीना गर्व से फूल गया है। अरे, जांति-पांति, फिरकापरस्ती तो हम नादान इंसानों के दिमाग की उपज है। इंसानियत से बड़ा कोई धर्म नहीं। आज तुमने एक सच्चा इंसान होने का सबूत पेश किया है नीरू। यह औलाद तुम दोनों को बहुत-बहुत मुबारक।” बशीरा ने उसे गले लगाकर मुबारकबाद दिया था।

अब तक असमंजस में खड़ी बशीरा की बेगम हकीकत जानकर खुश हो गई थी। “हमारा भी मुबारकबाद कबूल कीजिए भाईजान। इस खुशी के मौके पर मैं नीमा से उपहार लूंगी। लाइये लोटा, मैं दूध देती हूं।” उसने नीरू से लोटा ले लिया था।

नीरू हंसते हुए बोला, “जरूर बहना! वह तो तुम्हारा हक है। तुम्हें जरूर मिलेगा।”

इसके बाद बशीरा की बेगम दूध लेने भीतर चली गई थी। इस बीच नीरू ने कहा, “एक गुजारिश और है बशीरा, जब तक दूध वाली बकरी का इंतजाम नहीं हो जाता, मैं सबेरे-शाम रोज दूध ले जाऊंगा। जो दाम होगा महीने के महीने अदा कर दिया करूंगा।”

इतना सुनते ही बशीरा जैसे बिदक गया था, “नहीं, यह नहीं हो सकता। अपना भी कहते हो और सौदेबाजी भी करते हो। बहुत शर्म की बात है। सबेरे होते ही हम दोनों बकरी को लेकर तुम्हारे घर आयेंगे। हम तुम्हारे बच्चे को भी देख लेंगे और बेगम, नीमा को दूध दुहना भी सिखा देगी। यह बकरी मैं बच्चे को नजराने में दे रहा हूं। जब वह इसका दूध पियेगा तो हम समझ लेंगे कि बकरी का दाम मिल गया।”

बशीरा की आत्मीयता से अभिभूत नीरू का कंठ अवरुद्ध हो गया था। उसने उठते हुए कहा, ‘बशीरा,

तुमने तो मुझे कुछ कहने लायक ही नहीं रखा। अब चलता हूँ।” और वह बशीरा के घर से बाहर निकल आया था। बशीरा अपनी बेगम के साथ मंद मुस्कान लिए तब तक उसे जाते हुए देखता रहा जब तक वह उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो गया था।

नीरू घर पहुँचा तो नीमा बेसब्री से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। शायद भूख के कारण बच्चा बार-बार रोने लगता था। नीमा तत्काल चम्मच लेकर उसे दूध पिलाने बैठ गई। दूध पीकर वह चुप हो गया था और थोड़ी देर में उसे नींद आ गई थी। अब दोनों खा-पीकर सोने का उपक्रम करने लगे। मगर खुशी के अतिरेक की वजह से उनकी नींद गायब हो गई थी। दोनों विचार-विमर्श करते रहे कि कल उन्हें क्या-क्या करना पड़ेगा। लग रहा था, ढेरों काम हैं, ढेरों चिंतायें भी हैं। इसी उधेड़बुन में डूबे वे कब सोये, कब जागे, पता ही नहीं चला और सुबह हो गई। नीरू हड़बड़ाकर उठ बैठा। फिर आंख मलता हुआ फरीदा चाची के घर जा पहुँचा। चाची अभी-अभी सोकर उठी आंगन बुहार रही थी। नीरू उसके करीब जाकर उसे अपने घर चलने को कहा तो चाची हैरत से उसे घूरने लगी, “क्यों, क्यों जाऊंगी तुम्हारे घर?”

जवाब में हंसते-सकुचाते नीरू ने जब सारी घटना कह सुनायी तो चाची जोरों से हंस पड़ी, “तो यह बात है। अरे वाह रे नीरू, तू तो यूँ ही बाप बन गया रे। अच्छा चल, थोड़ी देर बाद मैं आ रही हूँ। तुम चिंता मत करना। मैं सब संभाल लूंगी। तुम्हारी संतान इस जुलाहे बस्ती की संतान है।”

अब नीरू घर लौट आया था पर फरीदा चाची के पेट में नीरू की बात हजम नहीं हो रही थी। झट तैयार होकर वह घर से निकल पड़ी। कुछ दूरी पर कुएं पर आस-पास की महिलाएं पानी भर रही थीं। चाची वहां जाकर बताने लगी, “अरी सुल्ताना, सुना तुमने, नीरू-नीमा कल बच्चा लेकर आये हैं।”

पूरी बात सुनने से पहले ही पनिहारिनें जोर-जोर से हंसने लगीं, “यह क्या कह रही हो चाची? सूत न

कपास और लट्टमलट्ट। क्या सुबह-सुबह ही तुमने भांग चढ़ा ली है?”

“अरे, सच कह रही हूँ। नीरू अभी-अभी बता गया है। लहरतारा की सीढ़ी पर कमल पत्ते के ऊपर पड़ा हुआ था।” चाची ने कहा तो वे फिर खिलखिलाकर हंसने लगीं।

“लो, और सुनो। अब फूल-पत्ते भी बच्चे पैदा करने लगे।” उनकी ठिठोली सुन चाची खिसियानी-सी हंसती हुई नीरू के घर की ओर चली गई। मगर अब यह बात सारी बस्ती में आग की तरह फैल गयी थी। आज नीरू के हाथ-पैर में जैसे पंख लग गये थे। वह यहां-से-वहां भागता फिर रहा था। और नीमा सारे पड़ोस में सोहर गाने को न्यौता देती नाचती डोल रही थी। सबेरे से ही घर में लोगों का आना-जाना शुरू हो गया। लोग बधाई देते तो वे प्रसन्नता से फूलकर कुप्पा हो जाते।

आज ही वह बच्चे का नामकरण भी करवाना चाहता था। थोड़ी ना नुकर करने के बाद मौलवी साहब दोपहर ढलने के बाद आने को तैयार हो गये थे। नीरू कोतवाल को बच्चा मिलने की सूचना देना भूल गया था, अतः उसे फिर दौड़ना पड़ा। कोतवाल सुनकर गुस्सा नहीं हुआ था। उल्टा आशा के विपरीत उसने भी नीरू को इसके लिए शाबाशी दिया था। वह लौटा तो ढोल-मजीरे और सोहर की आवाज से घर गमक रहा था। वहां हरेक के चेहरे पर मुस्कान थिरक रही थी। टोकरी भर-भर कर मिठाई मंगवाया था नीरू ने। उनकी वर्षों की मुराद जो पूरी हुई थी। आज वह किसी को कोई शिकायत का मौका नहीं देना चाहता था। बेटा जो पाया था।

दोपहर के बाद ठीक समय पर मौलवी साहब आ गये थे। उन्हें विशेष रूप से तैयार आसन पर बैठाया गया था। सारे उपस्थित लोग उत्सुकता से उनकी ओर ताकने लगे। नीमा बच्चे को लेकर आ गई और मौलवी साहब के बगल में सुलाकर वहीं पास में ही बैठ गई थी। नीरू भी उनके करीब ही बैठा था। मौलवी साहब

बच्चे के ऊपर एक भरपूर नजर डालने के पश्चात अपनी किताब के पन्ने पलटने लगे। इन सबसे बेखबर बच्चा मस्ती में डूबा अपने हाथ-पैर हिला-डुला रहा था।

गणना के अनुसार बच्चे का नाम निकला तो मौलवी साहब अचानक चौंक पड़े, “नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? एक गरीब जुलाहे के बच्चे का यह नाम नहीं हो सकता।” वे एक बार फिर बच्चे को गौर से देखने लगे। आश्चर्य, बच्चा तत्क्षण मुस्करा दिया था। यह देख मौलवी साहब एकाएक भौचक्के रह गये थे। वे फिर किताब के पन्ने उलट-पलट कर गुणा-भाग करने लगे इस बार फिर वही नाम—कबीर। मौलवी फिर बच्चे को ध्यान से निहारने लगे। उन्हें लगा वह बच्चा फिर मुस्करा रहा है। हड़बड़ाते हुए वे पुनः

किताब में नाम का मिलान करने लगे। शायद उनसे कोई चूक तो नहीं हो रही है? लेकिन यह क्या, फिर वही नाम—कबीर। आखिर उन्होंने कहा, “नीरू, तुम्हारे बेटे का नाम कबीर निकल रहा है। जानते हो, कबीर का मतलब होता है महान। निश्चय ही यह बालक बड़ा होकर अपना और तुम्हारा नाम रौशन करेगा। तुम दोनों भाग्यशाली हो। मुबारक हो।”

सुनकर नीरू-नीमा जैसे पागल हो गये थे। मौलवी साहब को मुंहमांगा नजराना देकर उन्होंने बिदा किया था। उन्हें लग रहा था मानो इस संसार में उनके जैसा खुशनसीब दूसरा कोई नहीं। उपस्थित सारे लोग कबीर, कबीर चिल्लाते हुए उसे उठाकर नाचने लगे। सचमुच नीरू-नीमा के साथ आज जुलाहा बस्ती का भी भाग्योदय हुआ था।

संत कबीर का चिन्तन संसार

लेखक—श्री कन्हैया सिंह विशेन

कबीर की अनुभूतियां उनके काव्य में मार्मिक और हृदयस्पर्शी ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं। काव्य का प्रादुर्भाव मानवीय संवेदना के उदात्तीकरण की अवधारणा से संश्लिष्ट माना जाता है। कोई भी कालजयी कवि इसका अपवाद नहीं हो सकता है। आत्मचिन्तन की मनःस्थिति में कबीर अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए कहते हैं—लोग बड़ी ही कुशलता के साथ अपनी बातों से संसार को आकर्षित करते हुए, अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतु कटिबद्ध हैं लेकिन वास्तव में उनकी बातों का कोई असर पड़ता दिखता नहीं, क्योंकि उनके मन में कपट है, कथनी-करनी में विरोध है। वे अन्दर से सरल, शांत और सन्तुष्ट नहीं हैं। वे दोषदर्शन एवं कुटिलतापूर्वक स्वार्थ सिद्धि में ही संलग्न हैं। फिर अहंकार के वशीभूत

होकर उन्हें जन्म-जन्मांतर तक चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के चक्र में पड़ने से भला कौन रोक पायेगा। देखें—

बात बनाई जग टग्यो, मन परबोधा नाहि।
कहैं कबीर मन लै गया, लख चौरासी माहि
दोष पराया देखि कै, चले हसन्त हसन्त।
अपना याद न आवई, जाका आदि न अन्त
तन का बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय।
तू आपा को डारि दे, दया करै सब कोय

धन के सम्बन्ध में कबीर का ‘कमेन्ट’ बड़ा ही सटीक, प्रभावोत्पादक और ‘आँखिन की देखी’— अनुभूति को प्रस्तुत करता है। कबीर का विचार है कि धन हमेशा रहता नहीं, शरीर में बल भी अस्थायी है,

इतना ही नहीं व्यक्ति का नाम, ग्राम, पता भी काल के गाल में समा जाता है। लेकिन धन और बल के रहते हुए यदि किसी का कोई भी काम कर दिया जाता है तो वह व्यक्ति यशस्वी होता है। धन होने पर 'दान' करना अथवा अपने उपभोग में लाना ही उचित होता है क्योंकि इसके अभाव में धन रोग, शोक, संताप का जनक होता है। माया और वेश्या दोनों में एक कटु सत्य है, दोनों आगमन पर आदर करती हैं और जाते वक्त बिना बात किये उपेक्षा करती हुई चली जाती हैं। ऐसा नहीं है कि कबीर माया (धन) की निन्दा ही करते हैं। वे उसकी प्रशंसा भी करते हैं कि सम्यक विवेकपूर्वक माया का उपयोग व्यक्ति को मुक्ति की ओर अग्रसर करता है, जबकि माया का अंध संचय नरक का मार्ग प्रशस्त करता है—

धन न रहै न बल रहै, रहै ग्राम न ठाम।
कबीर जग में जस रहै, कर दे किसी का काम
धन पावै कछु दान कर, अथवा कीजे भोग।
दान भोग बिन धन गहै, वृथा बटोरत रोग
कबीर माया बेसवा, दोनों की इक जात।
आवत को आदर करै, जात न पूछै बात
कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति दै, संचत नरक दुआर

जीवन और जगत का सूक्ष्म निरीक्षण चिन्तनशील व्यक्तित्व की बोधगम्यता का प्रतीक है। प्रायः सभी लोग कभी न कभी जंगल, झाड़ी और वृक्षों के सम्पर्क में आते हैं, इनको देखते हैं, लेकिन उनसे शिक्षा और मार्गदर्शन प्राप्त करने की चेष्टा कबीर की अपनी विशेषता है। प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर अपनी अनुभूतियों की सम्यक अभिव्यक्ति के विरलतम प्रसंगों में कबीर "वृक्ष, पत्ते एवं झाड़" के संवाद के माध्यम से शाश्वत सत्य का सन्देश देते हैं। वृक्ष पतझड़ का आगमन देखकर विषादग्रस्त होकर मन में रुदन करते हुए कहता है कि हमारी ऊंची शाखाओं पर स्थित पत्ते धीरे-धीरे पीले होते जा रहे हैं और शीघ्र ही वे गिर जायेंगे। वृक्ष की मनःस्थिति का आभास पाकर पत्ता वृक्ष

से कहता है कि तुम दुखी न हो और अब हमारे गिरने में विलम्ब नहीं है, लेकिन शीघ्र ही बसन्त ऋतु आ रही है जिसमें चतुर्दिक हरी कोपलें और पत्ते बहुतायत से आ रहे हैं, जहां हमारे जैसे असंख्य सहयोगी आपके पास विद्यमान होंगे। सामान्य मनोभूमि में आने पर वृक्ष पत्ते से कहता है कि यह हमारे घर की सामान्य-सी बात है, जहां एक आता है और एक जाता है, पुराने पत्ते झड़ते हैं और नये पैदा होते हैं अर्थात् पतझड़ के बाद बसन्त का आगमन एक शाश्वत नियम है। इसके बाद पत्ता वृक्ष से कहता है अबकी टूटकर गिरने के बाद मैं हवा के झोंकें से बड़ी दूर चला जाऊंगा, पुनः आपसे मिलना नहीं हो सकेगा।

हवा चलती है और पत्ता टूटकर वृक्ष के नीचे स्थित झाड़ियों में उलझ जाता है और वह पुनः झाड़ी से कहता है, अब भला तुझे क्या सूझी है, तुमने मुझे क्यों रोक लिया है। जिस प्रकार वृक्ष ने मुझे त्याग दिया है, उसी प्रकार तू भी मुझे चला जाने दे, क्योंकि अब मैं किसी के लिए उपयोगी नहीं रह गया। जीवन और मृत्यु, सुख और दुख, मोह और स्वार्थ, विनाश और निर्माण की कितनी सटीक, सरल, शाश्वत और हृदयस्पर्शी व्याख्या कितनी सहजता से अभिव्यक्त हुई है—

फागुन आवत देखि के, बन रोता मन माँहि।
ऊँची डारी पात था, पियरा हूँ हूँ जाँहि
पात जो तरवर से कहै, विलम्ब न मान्यो मोर।
आयी ऋतु जो बंसत की, जहाँ जाऊँ तहाँ तोहि
तरवर कहता पात से, सुनो पात एक बात।
इस घर याही रीत है, एक आवत एक जात
पात झरन्ता यों कहै, सुन तरवर वनराय।
अबके बिछुड़े न मिलै, दूर पड़ेंगे जाय
कहे पात वा झाड़ से, कहा पड़ी अब तोहि।
ज्यों वा तरवर ही तज्यो, चलो जान दे मोहि

व्यक्ति की पहचान उसके गुण, स्वभाव, आचरण से होती है, न कि उसके रूप, रंग, परिधान से। इसकी अभिव्यक्ति चन्दन वृक्ष की नियति से द्रष्टव्य है। शुष्क लकड़ियों के ढेर में से चंदन की लकड़ी को पलास की

लकड़ी समझकर चूल्हे में जलाने के लिए डाला जाता है, किन्तु अग्नि का स्पर्श पाकर चन्दन की सुगंध पर्यावरण में व्याप्त हो जाती है। जैसे-जैसे चन्दन अधिकाधिक प्रज्वलित होता है उससे प्रसूत सुगन्ध की मात्रा बढ़ती जाती है, तब लोग उसकी पहचान 'चन्दन' की लकड़ी के रूप में करते हैं। ठीक इसी प्रकार सामान्य वेशभूषा में समीप ही रहने वाले व्यक्तियों की पहचान समाज बहुत देर से कर पाता है और जब अपने खास आत्मीय, विश्वस्त, पालित और पोषित लोग ही परिस्थिति एवं स्वार्थवश शत्रुओं-सा व्यवहार करते हैं और अपने ही संरक्षक के नाश में तत्पर हो जाते हैं, जब बड़ी मर्यादा पीड़ा होती है और यह कटु एहसास होता है कि वास्तव में कोई किसी का सच्चा हितैषी नहीं है। सारी ममता और मोह का कलेवर स्वार्थजनित है, जिसमें लोग जन्म से लेकर मृत्यु तक तल्लीन रहते हैं। चंदन की विडम्बना भी यही है जो बड़ी दुःखदायिनी है क्योंकि जिस सुगन्ध को उसने अपने पेट में बड़े जतन से छिपाकर रखा था, वही सुगन्ध उसकी मृत्यु का कारण बन गयी, क्योंकि चंदन की सुगंध लकड़ी के अन्दर रहती है, जो काटने, घिसने, जलाने पर ही फैलती है। त्रासदी यह है कि जिस पक्षी ने उसके ऊपर रात में विश्राम किया था, उसी ने उसका अता-पता बताया और फलस्वरूप चंदन का वृक्ष काटा गया, उसकी जड़ें भी निकाल ली गयीं—यह सब उसके आश्रित पक्षी का ही उपकार रहा जिससे उसका समूल अस्तित्व ही समाप्त हो गया—यह है अपनों की चोट।

*चंदन गया विदेश को, सब कोई कहै पलाश।
ज्यों-ज्यों चूल्हे झोंकियाँ, त्यों-त्यों अधिक सुवास
चंदन रोया रात भर, मेरा हित न कोय।
जिसको राखा पेट में, सो फिर बैरी होय
चंदन काटा जड़ि खनी, बाँधि लिया सिर भार।
काल्हि जो पंछी बसि गया, तिसका यह उपकार*

आश्चर्य है कि समस्त सुख-सुविधाओं से सम्पन्न मानव दुखी है, उसके जीवन में सुख-शान्ति नहीं है। उसके पास धन है, मकान है, दुकान है, व्यापार है,

नौकरी है, लेकिन सुख नहीं है। वह चिन्तित, क्षुब्ध, उदास और अवसादग्रस्त है। कारण है कि वह सुख-शांति की खोज में बाहर भटक रहा है, जबकि वांछित सुख-शांति बाहर नहीं अन्दर ही है। आज मनुष्य के अपने ही दृष्टिदोष से, सोच से, सुख की खोज बाह्य वस्तुओं पर केन्द्रित है। वह दूसरों को सुखी मानता है, क्योंकि मन की भूल-भुलैया उसे क्षण भर भी विश्राम नहीं लेने देती है और वह अपने पास उपलब्ध सुख-साधनों का उपभोग न कर दूसरों की तुलना करते हुए अपने को जला रहा है। संसार में बिरले ही सुखी हैं। जिन्हें हम सुखी मानते हैं उनके भी अन्तः में दुखों की भीषण ज्वाला धधक रही है। यदि आप उनका दुख सुनेंगे तो अपना दुख भूल जायेंगे। वास्तविकता यह है कि हमें मानसिकता परिवर्तित कर सुख-दुख की अवधारणा पर शांत चित्त से विचार करना चाहिए। मन को निर्मल करते हुए, समता के साथ, स्वार्थभावना को त्याग कर हम शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। जरा ध्यान दें, फूलों को देखें, न उन्हें भूत की चिन्ता है न भविष्य की। वर्तमान में ही वे कितने प्रसन्न मस्ती से झूमते हुए खिले हैं। काश! हम भी ऐसा कर पाते। रही सुख-दुख की बात—तो वास्तव में सुख-दुख सहोदर हैं। सुख को सब चाहते हैं दुख को कोई नहीं चाहता। गम्भीरता से विचार करने पर दुख कल्याणकारक होता है। तभी तो विचारशील व्यक्ति दुख को तरजीह देता है। दुख हमारे अन्दर विचार जगाता है। वैराग्य उत्पन्न करता है। संसार के प्रति आसक्ति को मिटाता है, जीवन और जगत के प्रति यथार्थ दृष्टि से देखना सिखाता है। हमें अपनी मानसिकता परिवर्तित करते हुए अपने को सुख-दुख के संकल्प-विकल्प से अलग रखना चाहिए और याद रखना चाहिए कि सच्चा सुख, शाश्वत शान्ति तो सन्तों के सत्संग से ही मिल सकती है—

*सुखिया दूँदत मैं फिरा, सुखिया मिला न कोय।
जाके आगे दुख कहूँ, पहिले उट्टै रोय
स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पूर तीन सुख नाहि।
सुख साहेब के भजन में, अरु संतन के माहि*

मानुष जन्म चूकेहु अपराधी

(परम पूज्य गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा, कबीर मंदिर, प्रीतमनगर, इलाहाबाद में रविवारीय सत्संग में दिया गया प्रवचन। प्रस्तुति—रामकेश्वर जी)

(गतांक से आगे)

कबीर साहेब कहते हैं कि तुम्हारे शरीर के बहुत-से साझीदार हैं। हम मानते हैं कि यह शरीर मेरा है, लेकिन मेरा कहां है। इसके बहुत हिस्सेदार हैं। प्रथम हिस्सेदार तो माता-पिता हैं—“तात जननि कहैं पुत्र हमारा।” माता-पिता कहते हैं कि हमारा पुत्र है। तुम कहते हो कि हमारा शरीर है और माता-पिता कहते हैं कि हमारा शरीर है। अब बताओ कि तुम्हारा शरीर है कि उनका है। यहीं तुम्हारे शरीर का बंटवारा हो गया।

“स्वारथ जानि कीन्ह प्रतिपारा” माता-पिता ने इस शरीर का पालन-पोषण किया है। क्यों प्रतिपाल किया है, क्योंकि बुढ़ापा में काम आयेगा। इसी स्वार्थ से माता-पिता ने इस शरीर का पालन-पोषण किया है। स्वार्थ न हो तो कौन पालन-पोषण करता। बच्चा अगर असाध्य बीमारी से ग्रस्त हो जाये, उसके जीवन की कोई आशा न रहे या जीवन रहे भी लेकिन काम लायक न हो तो माता-पिता प्रायः सोचते हैं कि अब यह न रहता तो अच्छा होता। प्रत्यक्ष वे भले ही इस प्रकार न कहें लेकिन ऐसा सोचते हैं। माता-पिता अपने स्वार्थवश ही पुत्र को चाहते हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए पुत्र का पालन-पोषण करते हैं।

“कामिनि कहैं मोर पिउ आही, बाधिनि रूप गिरासा चाही” कामिनी स्त्री कहती है कि यह तो मेरा ‘पिउ’ प्रियतम है। वह भी अपना हिस्सेदारी जताती है। कामिनी का अर्थ है—दूषित स्त्री। जो फंसानेवाली स्त्री हो, उसे कामिनी कहते हैं और इसी प्रकार कामी पुरुष होते हैं जो नारियों को फंसानेवाले होते हैं। साहेब कहते हैं ऐसे पुरुष और स्त्री तो मानो बाध-बाधिन हैं जो लोक मर्यादा से भी हटकर दुष्कर्म करने तथा करानेवाले हैं, वे समाज के भक्षक हैं, लेकिन इनका भी समाज में सदा से

बोलबाला रहा है। ऐसे लोग भी सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। हमें अपने आपको बचाना चाहिए।

“सुत कलत्र रहैं लौ लाई, यम की नाई रहै मुख बाई।” सुत=बच्चा और कलत्र=पत्नी। पुत्र और पत्नी भी अपने स्वार्थ की पूर्ति का ही ध्यान लगाये रहते हैं और ऐसे ही पति भी पत्नी से स्वार्थ की लौ लगाये रहते हैं। “काग गिद्ध दोउ मरण विचारें” कौए और गिद्ध दोनों मनुष्य के मरण का विचार करते हैं कि कब यह मरे जिससे इसका मांस खाने को मिले। “सीकर श्वान दोउ पंथ निहारें” सियार और कुत्ते भी आशा लगाये रहते हैं कि अगर मुर्दा को पा जायें तो खा लें।

“अगिन कहै मैं ई तन जारौं” आग कहती है कि मैं शरीर को जलाने के लिए तैयार हूं। और “पानि कहै मैं जरत उबारौं” पानी कहता है कि मैं तो इसे जलने नहीं दूंगा और अपने में मिलाकर सड़ा डालूंगा। “धरती कहै मोहिं मिलि जाई” धरती इस शरीर को अपने में मिलाना चाहती है। “पवन कहै संग लेऊँ उड़ाई”—पवन इस शरीर को उड़ा लेना चाहता है। ये सभी लाक्षणिक कथन हैं। इसका मतलब है कि यह शरीर मिट्टी, पानी, आग और हवा में विसर्जित हो जाता है। यह शरीर मिट्टी का है, आग का है, हवा का है और पानी का है। यह शरीर तुम्हारा कहां है। माता-पिता, पत्नी-भाई, पति और बच्चे—इन सबका यह शरीर है। काग, गिद्ध, सियार और कुत्ते का यह शरीर है। कहने का मतलब है कि इस शरीर पर सब अपना अधिकार मानते हैं। हम जिस शरीर पर अपना अधिकार मानते हैं, जिसको हम अपना मानते हैं वह हमारा अपना कहां है।

हमारे इस शरीर को कोई अपना शत्रु मानता है, कोई अपना मित्र मानता है और कोई इस शरीर को

महापुरुष मानता है। इस प्रकार लगता है कि हम कितने भ्रम में हैं। हम कितना अपने को छलते हैं। हम अपने माने हुए इस चेहरे को दिन में चार-पांच बार देखते हैं और सोचते हैं कि वाह रे हम! हम कितना सुन्दर हैं और कहीं जवानी का समय हो तब क्या पूछना! तब तो रसभरी आंखें, सुन्दर कपोल, सुन्दर चमकती दंतपंक्ति, सब कुछ कितना सुन्दर लगते हैं और जिनको देख-देखकर लगता है कि यही मैं हूं। लेकिन ये तुम कहां हो। ये तो मिट्टी, हवा, आग और पानी के हैं। ये तो संसार के हैं। तुम इनसे अलग हो। तुम अपने आपको इनमें से निकालो और पहचानो कि तुम कौन हो। जिस शरीर को तुम अपना मान रहे हो, यह एक दिन लुढ़क जायेगा और पता नहीं कहां-कहां पड़ा-पड़ा सड़ जायेगा।

जैसे अमेरिका और इंग्लैण्ड के किसी खेत में मानो मिट्टी का लौंदा पड़ा हो, समझ लो जैसे यह शरीररूपी लौंदा भी उतनी ही दूर पड़ा है। हमारी यह काया भी हमसे मानो उतनी ही दूर पड़ी है और समझो ही नहीं किंतु मान भी लो कि एक दिन यही होता है। बड़े से बड़े पुरुष का शरीर जब छूट जाता है तब उस शरीर को आग में रख दिया जाता है या पानी में बहा दिया जाता है या मिट्टी में गाड़ दिया जाता है। पारसी लोग तो मृत शरीर को जमीन पर रखकर छोड़ देते हैं जिसको चील-गिद्ध आदि खा लेते हैं।

हमारी भारतीय परम्परा के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में तो जो जला दिये गये हैं, जो गाड़ दिये गये हैं और जो ऐसे ही जमीन पर छोड़ दिये गये हैं उन सभी के लिए ऋषि शुभकामना व्यक्त करते हैं। इसलिए लगता है कि जलाने, गाड़ने, बहाने और जमीन पर रख देने आदि सभी रस्म बहुत प्राचीन हैं।

मैं कह रहा था कि रात-दिन हम अपने आप को छलते हैं कि “यह शरीर मैं हूं, यह देह मैं हूं”। यह देह मैं कहां हूं। मैं तो साक्षी हूं, ज्ञाता हूं, ज्ञाननिधान हूं और ज्ञानस्वरूप हूं। मैं यह देह नहीं हूं। यह देह तो मिट्टी, पानी, आग और हवा का बना है। आकाश शून्य है और

वह भी इस देह में स्थित है। इस प्रकार से जब हम विचार करेंगे और इस प्रकार की विचारभूमि पर जब हम स्थित होंगे तब हमें समझ में आयेगा कि हमारा यह जीवन भोग के लिए नहीं किंतु योग के लिए है, कल्याण के लिए है और शांति के लिए है। जगह-जगह उलझने के लिए हमारा यह जीवन नहीं है।

जिसको हम भोग मानते हैं उसमें क्या मिलता है, चंचलता ही तो मिलती है। किसी विषय के भोग में पड़े तो चंचलता बढ़ेगी। स्वाद में आदमी जितना पड़ता है उतना उसकी चंचलता बढ़ती है। स्वाद की भावना जिसमें नहीं है, उसे भूख लगी तो कामभर का भोजन ले लिया। कभी उसका मन नहीं भटकता कि यह खाने को मिले, वह खाने को मिले।

रूप देखने की आदत आप में हो तो आप रूप देखने की लिए परेशान रहोगे। सिनेमा, नाच, नाटक देखने के लिए परेशान रहोगे। अपनी यात्राओं के दौरान एक बार एक बड़े शहर में गाड़ी में बैठकर मैं जा रहा था। रास्ते में देखा कि एक जगह बड़ी लम्बी लाइन लगी थी। मैंने देखा तो पूछा—भाई! यहां इतनी संख्या में लोग क्यों लाइन लगाये हैं। तब हमारे साथी ने बताया कि यहां सिनेमाहाल है और टिकट के लिए लाइन लगी है। और इतनी लम्बी लाइन कि खिसकते-खिसकते कोई चार-पांच घंटों में खिड़की तक पहुंच पाते होंगे। तो चित्र देखने के लिए, रूप देखने के लिए, इतनी भीड़ लगती है। क्या इतनी भीड़ भगवान के लिए भी लगती है? भगवान के दरवाजे पर कभी इतनी भीड़ नहीं लगती है। इसलिए बड़ी अद्भुत लीला इस संसार की है।

सिनेमा और टेलीविजन देखने से क्या मिलता है—केवल मन चंचल होता है। और इससे लड़कों की पढ़ाई चौपट होती है। क्योंकि एक तो उनकी उम्र भी ऐसी होती है कि भावावेश अधिक रहता है और दूसरा कि टेलीविजन वाले ऐसा दृश्य दिखाते हैं जो उत्तेजक हो। इसलिए इस टेलीविजन के नशे में कितने बच्चों का मन चंचल हो जाता है और वे पढ़ाई में ध्यान नहीं दे पाते।

इसलिए पढ़ाई में वे पीछे हो जाते हैं।

अभी कल ही की बात है। एक लड़का मेरे पास आया। जिस समय वह मेरे पास आया वह समय उसके कोचिंग पढ़ने का था। मैं जानता था इसलिए उससे पूछा—क्यों, बेटा! आज कोचिंग से जल्दी क्यों चले आये? उसने बताया—“साहेब, कोचिंग में रोज तीस लड़के बैठते थे लेकिन आज अट्टाइस लड़के नहीं थे। मुझे लेकर केवल दो ही थे। इसलिए अध्यापक ने कहा कि क्या पढ़ाऊँ। जब हम दोनों ने जोर दिया कि नहीं कुछ तो पढ़ाइए तब कुछ पढ़ा दिये और फिर छोड़ दिये।” अब तीस लड़कों में दो-चार न भी आते तो भी कुशल था लेकिन तीस में अट्टाइस लड़के नहीं आये क्योंकि फिल्म का चक्कर था। शनिवार का दिन था और कोई पिक्चर आनी थी इसलिए लड़के कोचिंग में नहीं गये। यह है टेलीविजन का नशा। इस टेलीविजन से नुकसान बहुत ज्यादा हो रहा है। टेलीविजन जिसको टी.वी. कहते हैं, वास्तव में टी. बी. रोग जो शरीर में हो जाया करता है उससे भी कहीं अधिक भयंकर रोग है और यह घर-घर में लग गया है। लगाने के लिए लोग मजबूर भी हैं क्योंकि न यदि लगावें तो उनके बच्चे उनको परेशान कर देते हैं। इस टेलीविजन से घर-घर में जो सत्संग का माहौल था वह चौपट हो गया है। जिस घर में सत्संग होता था अब वहां टी.वी. लग गया तो लोग सत्संग करें कि टी. वी. देखें।

टी. वी. में अच्छी-अच्छी बातें भी आती हैं लेकिन उनका प्रभाव लोगों पर कहां पड़ता है। प्रभाव तो खराब बातों का ही अधिक होता है क्योंकि मन का आकर्षण खराब की ओर ज्यादा होता है और आदमी सावधान न रहे तो तेजी से खराबी अपने मन में आ जाती है।

मैं कह रहा था कि भोगों में मिलता क्या है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के भोगों में रखा क्या है। भोगों में केवल रोग ही तो है। इनसे फायदा क्या है। अज्ञान और भ्रान्ति से एक आदत बन जाती है जिसमें आदमी आसक्त होकर परेशान हो जाता है। इन्द्रियों के जितने भोग हैं वे चित्त को चंचल करते हैं और चंचलता

ही अशांति है। इच्छा की आग में भोगों की आहुति डालने से यह आग कभी नहीं बुझती है। राजा ययाति की कथा इसी बात को समझाने के लिए बनायी गयी है। ययाति रघुकुल के एक प्रतापी राजा थे। उनकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर थी जिसको आजकल झूंसी कहते हैं। जो इलाहाबाद का एक उपनगर है और गंगा के पूर्वी तट पर बसा है।

राजा ययाति कई बालाओं का उपभोग करते-करते बूढ़े हो गये लेकिन उनका मन तृप्त न हुआ। कहा जाता है कि उन्होंने अपने पुत्र की जवानी लेकर भी बहुत वर्षों तक भोगों को भोगा फिर भी उनका मन शांत न हुआ बल्कि तृष्णा में और भी अशांत हो गये। तब उन्होंने अपने पुत्र को जवानी लौटा दी और वन में तप करने चल दिये।

ययाति ने जब भोगों की इच्छाओं का त्याग कर साधनाभ्यास किया, तब जाकर उनको शांति मिली। यह कहानी तो काल्पनिक है क्योंकि अपनी जवानी किसी को दी नहीं जा सकती। हमारी जवानी कोई दूसरा ले ले, हमारा बुढ़ापा कोई दूसरा ले ले, भला यह कहां होनेवाला है। अब बात है कि धर्म की किताब में लिखा है तो आप कहेंगे कि सच होगा। धर्म की किताब में लिख देने मात्र से बात सच नहीं हो जाती लेकिन यही हमारी मानसिक गुलामी है कि हम स्वतंत्र विचार नहीं करते हैं। विवेक का इस्तेमाल हम नहीं करते और यही मान लेते हैं कि धर्म की किताब में जो भी लिखा है वह सच है। यह मानसिक गुलामी हमें सत्य को समझने से दूर करती है। हमें विवेकी होना चाहिए।

राजा ययाति की कहानी बातों को समझाने का तरीका है कि एक ही नहीं किंतु अनेक जवानी लेकर भी भोगों में अशांति ही मिली। उनको शांति मिली तो त्याग से ही मिली। त्याग से ही शांति होती है, भोग से नहीं यह बात सभी के मन में बैठना चाहिए। आप कहेंगे कि महाराज, यह तो वैरागियों के लिए उपदेश हुआ लेकिन यह केवल वैरागियों के लिए ही नहीं किंतु सभी के लिए उपदेश है। गृहस्थी में जो संतान पैदा करने की बात है

उसमें तो वैराग्य की थोड़ी ही बात है लेकिन गृहस्थ को भी यदि स्वस्थ रहना है, शांति-लाभ करना है, उनको भी सुखी रहना है तो उनको भी भोगों से वैराग्य करना होगा। भोगी होकर वे सुखी और शांत कैसे रहेंगे। आप सब जानते ही हैं कि जहां बीमारी अधिक होती है वहां अधिक दवाई की जरूरत पड़ती है। गृहस्थी का मतलब यह नहीं होता कि भोगी चाहे जितना रहे, छूट मिली है। छूट किसी को नहीं है। गृहस्थ हो या विरक्त, सभी को वैराग्य करना है। भोगों से अनासक्त रहना है। अनासक्ति ही शांति और सुख का कारण है और गृहस्थ और विरक्त दोनों को ही सुख और शांति चाहिए। फिर कैसे कहा जाये कि यह उपदेश केवल विरक्तों के लिए ही है, गृहस्थों के लिए नहीं है। यह उपदेश सबके लिए है।

विचार करना चाहिए कि जीवन का लक्ष्य भोग है कि शांति। शांति ही जीवन का लक्ष्य है। भोग जीवन का लक्ष्य नहीं है। भोग और शांति में बहुत बड़ा अंतर है। दोनों दो दिशाएं हैं। भोग का लक्ष्य होने से जीवन में पाप पर पाप होता है। मान लीजिए कोई आदमी कमाता है तो कमाने का लक्ष्य पैसा नहीं है। कमाने का लक्ष्य है जीवन-गुजर। कमाने से पैसा मिलता है और उससे अन्न-पानी, कपड़े-लत्ते, मकान आदि मिलते हैं फिर जीवन का गुजर होता है। अब किसी का लक्ष्य केवल पैसा कमाने का ही हो, तो पैसे के लिए आदमी खूब पाप भी करेगा और उसके पाप का घड़ा किसी न किसी दिन फूटेगा जिससे वह दुखी होगा। इसलिए हमारा लक्ष्य दूषित नहीं होना चाहिए, किंतु सही होना चाहिए।

“सो तन तुम आपन कै जानी, विषय स्वरूप भुलेउ अज्ञानी।” साहेब कहते हैं कि ऐ मूढ़! ऐसे शरीर को तू अपना मान रखा है। तू मान लिया है कि मैं यही शरीर हूँ। यह तेरी कितनी बड़ी भूल है।

इतने तन के साझिया, जन्मों भरि दुख पाय।

चेतत नाहिं मुग्ध नर बौरै, मोर मोर गोहराय

जिस शरीर को तू अपना मानता है, वह तेरा नहीं है। उसके तो बहुत साझी हैं, हिस्सेदार हैं। इस बात को

तू नहीं चेतता है और जीवनपर्यन्त दुख पाता है। इस शरीर को तू ‘मेरा-मेरा’ कहता है लेकिन यह तो काग-गिद्ध, माटी-पानी, आग और हवा आदि का है। यह साहेब की लाक्षणिक बात है। थोड़े में उन्होंने इतने हिस्सेदार गिना दिये हैं। वैसे और भी बहुत-से साझीदार इस शरीर के हैं। जिनको कहां तक गिनाया जाये।

आप कहीं पड़े सो रहे होते हैं, चींटी आती है और काटने लगती है। उसको बड़ा आनन्द आता है। बिना हटायें वह हटती नहीं, तो लगता है कि उसका भी मानो इस शरीर में हक है, हिस्सा है। मच्छरों के लिए क्या कहना! उनका भी हिस्सा इस शरीर में है। वे भी मानते हैं कि यह शरीर तो हमारा है। वे ज्यादा मांस आदि तो नहीं लेते लेकिन वे आकर शरीर पर बैठते हैं, अपनी सूंड दबाते हैं और सार चीज निकालकर उड़ जाते हैं। इसलिए आपका शरीर मच्छरों का भी है। इस प्रकार यह शरीर अपना नहीं है, किंतु साझे का है। हमने इसे अपना मान लिया है। यही हमारी भूल है। इस शरीर की सार्थकता है भजन। इसलिए इस शरीर में रहकर हमें भजन करना चाहिए।

भजन का मतलब है विकारों से भागना। भजन का मतलब है निर्विकार जीवन। साधकों को यह ध्यान देना चाहिए कि वे विवादरहित हों, स्वल्पाहारी हों और वाक्यसंयमी हों। जो साधक हो वह एक तो कम बोले लेकिन जितना बोले मीठा बोले और दूसरी बात विनम्र वाणी बोले। जो इस प्रकार का संयम रखेगा वही साधक हो सकता है। जो वाक्यसंयमी न होगा, वह व्यर्थ में ज्यादा बोलेगा और उसको शांति नहीं मिलेगी। इसलिए साधक को बहुत कम बोलना चाहिए। जो कटु बोलेगा वह साधक नहीं हो सकता। साधक को विनम्र होना चाहिए और कम बोलना चाहिए।

खाने में भी खूब सावधान रहना चाहिए। क्योंकि जो गलत खायेगा, वह साधक हो ही नहीं सकता। जिसे साधक होना हो वह कम खाये लेकिन भूखा भी न रहे। साहेब ने कहा है—“भूखे भजन न होय गोपाला, ले लो अपनी कंठी माला”। एकदम भूखा रहने से भी भजन

नहीं होता है लेकिन कुछ-कुछ भूख लगी रहे तभी भजन होता है। ज्यादा खाकर भजन नहीं होता है। और भजन तो भजन है, ज्यादा खाकर दफ्तर में भी काम नहीं किया जा सकता। ठूसकर खा लो तो उठने-बैठने में, चलने-फिरने में कठिनाई होती है। ठूसकर खा लो तो काम नहीं होता है। खेत गोड़ने का काम तक नहीं होता है। इसलिए साधक के लिए यह बहुत जरूरी है कि खाने-पीने में बहुत सावधानी रखे। साधक कम खाये और गम खाये। कम खाना और गम खाना यह तो महासूत्र है। गम तो हर जगह खाना है।

अपने घर में गये वहां गम खाना है लेकिन लोग घर में हरदम लड़ाई ही छेड़े रहते हैं और घर को नरक बनाये रहते हैं। घर में गम खाकर रहा जाये और मीठा बोला जाये तो घर का वातावरण स्वर्ग बना रहे। घर को स्वर्ग बनाओ। घर में जब पहुंचो तो समझो कि स्वर्ग में आ गये, देव मंदिर में आ गये और घर के सभी लोग देवी-देवता हैं ऐसा भाव होना चाहिए। लोग घर के बाहर खूब हल्का-फुल्का रहते हैं, सरल रहते हैं लेकिन जब घर में पहुंचते हैं तो समझते हैं मैं तो राक्षसों के बीच में आ गया। घरवालों को वे राक्षस समझते हैं और तनावग्रस्त हो जाते हैं। यह बहुत बड़ी गलती है और बुनियादी गलती है क्योंकि आदमी को ज्यादातर घर में ही रहना पड़ता है। अपने घर में ही ज्यादा संबंध होता है। इसलिए यदि वहीं कटुता और तनाव बना है तब जीवन में शांति कैसे होगी।

बाहर सरल होना बड़ा आसान है लेकिन घर में तनावग्रस्त रहते हैं यह बुनियादी भूल है, और बड़ी भूल है। ऐसा होना नहीं चाहिए। हम अपने-अपने घर में सरल हों, विनम्र हों और सबके साथ मधुरता और प्रेम का व्यवहार करें।

मैं कह रहा था कि साधना वही कर सकता है जो विनयी हो, और मीठा तथा विनम्र वचन बोले। अपना आहार सादा, स्वल्प और हल्का रखे। साधक कहीं विवादी न हो, कहीं उलझन में न पड़े, बचा-बचाकर चले। कुछ लोग बचा-बचाकर नहीं चलते बल्कि लड़-

लड़कर चलते हैं। ऐसे लोग हवा से लड़ते रहते हैं। रास्ते में कोई मिल जाये तो वहीं लड़ लेंगे लेकिन समझदार लोग जहां लड़ाई करने लायक होता है वहां भी नहीं लड़ते हैं। वे कुछ हारकर, कुछ देकर और कुछ गम खाकर बचा लेते हैं। हमें भी अपनी शक्ति को व्यर्थ में क्षय नहीं करना चाहिए। हमारे जीवन के एक-एक क्षण हीरे-मोती से भी अधिक कीमती हैं और एक-एक क्षण को हमें व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

हमारे चित्त में कभी गलत संस्कार न आ जायें इसके लिए सावधानी बहुत जरूरी है। सच्चा जीवन जीना अगर कुछ है तो यही है बचा-बचाकर चलना। भजन का जो रूढ़ रूप है वह ठीक है। आरम्भिक साधना में उसकी जरूरत है। साधना के आरम्भिक समय में कोई नाम जपता है, कीर्तन करता है, पाठ करता है, यह सब बुरा नहीं है लेकिन भजन की कसौटी यह नहीं है।

भजन की कसौटी है जीवन जीने का अच्छा तरीका। कैसे बोलते हैं, कैसे चलते हैं, कैसे खाते हैं, कैसे उठते-बैठते हैं, कैसे पहनते हैं और कैसे बरताव करते हैं। यह सब भजन में व्याप्त है। ठीक खाना, ठीक पहनना, ठीक बोलना, ठीक देखना, ठीक चलना, ठीक बरताव करना ही भजन है। कहीं खाना ठीक न हो, पहनना ठीक न हो, बोलना ठीक न हो, बर्तना ठीक न हो, देखना ठीक न हो, सुनना ठीक न हो, छूना ठीक न हो, सूंघना ठीक न हो, कुछ भी ठीक न हो, सोचना भी ठीक न हो तब भजन कहां है। जीवन के सब व्यवहार ठीक हों तभी भजन है।

सनत्कुमार प्राचीन भारत में एक महान ऋषि थे। एक बार नारद जी उनके पास पहुंचे और कहे— “भगवन्! कहा जाता है कि तत्त्ववेत्ता पुरुषों को पीड़ा नहीं होती, शोक नहीं होता। मैं तत्त्ववेत्ता तो हूँ किंतु मुझे पीड़ा होती है, शोक होता है। भगवन्! मैं बड़ा दुखी हूँ। मुझे आप पार लगा दीजिए।”

सनत्कुमार ने पूछा— “नारद! पहले यह बताइये कि आप कितना पढ़े हैं और क्या पढ़े हैं।” नारद जी ने

बताया—“महाराज, यह मत पूछिये, कि क्या-क्या पढ़ा हूँ। आप यह पूछिये कि मैं क्या नहीं पढ़ा हूँ। चारों वेदों को पढ़ा हूँ, समस्त वेदांगों को पढ़ा हूँ, तथा गणित, ज्योतिष सहित सारी विद्याओं को पढ़ लिया हूँ लेकिन मैं शोक करता हूँ।”

सनत्कुमार जी ने नारद जी को उपदेश दिया और कहा—“नारद! तुम तो केवल नाम की उपासना करते हो और जितना भी तुम गिना गये यह सब तो नाम ही हैं। वेदों में, शास्त्रों में जो नाम हैं वे केवल संज्ञाएं हैं और क्या हैं। नाम की उपासना करने से नाम के अन्दर में जो नामी है वह जानने में आ जाता है।”

नारदजी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या नाम से भी बड़ा कुछ होता है। उन्होंने सनत्कुमार जी से पूछा—“प्रभु! क्या नाम से भी बड़ा कुछ होता है।”

सनत्कुमार जी ने उत्तर दिया—हां, नाम से भी बड़ा वाक्य होता है। फिर नारद जी सनत्कुमार जी से प्रश्न करते गये और सनत्कुमार जी बताते गये। बहुत लम्बे संवाद के बाद सनत्कुमार ने बताया—“यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति”—भूमा में सुख है, अल्प में सुख नहीं है। उन्होंने भूमा की परिभाषा देते हुए आगे कहा—“यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ”—जहां साधक दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वही भूमा है। देखना, सुनना और जानना छोड़ो। रूमी साहेब ने कहा है—“चश्म बंदौ गौश बंदौ लब बिबन्द। गर् न बीनी सरैहक बरमन बखन्द।” आंखों को बन्द कर लो, कानों को बन्द कर लो, आँठों को बन्द कर लो। फिर तब भी सत्य के दर्शन न हों तब मेरा मजाक उड़ाना।

यहां आंख, कान और जबान बन्द करने की बात लाक्षणिक है। मतलब है कि विवेक होना चाहिए। बन्द करने का मतलब है संयम। जीवन में संयम होने से काम बनेगा। हमें अपने मन-इन्द्रियों में संयम रखना चाहिए।

हमारा जीवन जैसा होना चाहिए वैसा न होने से हमें शांति नहीं मिलती। हमें जैसे जीना चाहिए वैसे हम जी

नहीं रहे हैं। इसीलिए न तो हमारा मत काम देता है और न सिद्धान्त काम देता है, न दर्शन काम करता है और न राम-रहीम ही काम करते हैं। साधु-भक्त का वेष धारण कर लिये फिर भी काम नहीं बन रहा है क्योंकि जीवन जीने का तरीका ही बिगड़ा हुआ है। सफलता तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवन में हम सुधार नहीं करते हैं।

जीवन जीने का अच्छा तरीका हो, तभी हमारा काम बनेगा और तभी शांति मिलेगी। जिससे चंचलता बढ़े वैसा काम छोड़े, जिससे जीवन में अशांति आये, ऐसा काम छोड़े तब शांति मिलेगी। शाम को खाट पर लेटे हैं लेकिन मन में उलझन है तो निश्चित है कहीं हमने कुछ गड़बड़ी की है। गड़बड़ी है तभी मन में उलझन है। हमारे कर्म ऐसे होने चाहिए कि हमारे जीवन में सुगंधी भर जाये। हमारे मन में सुगंधी होनी चाहिए। किसी से मिलने पर मन में प्रसन्नता होनी चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि हम दो मिलें कि तकरार कर लिये। बात-बात में मन उलझ रहा होता है। नाहक में ही मन उलझ रहा होता है, पछतावा हो रहा होता है कि ऐसा न कहता तो अच्छा होता। मैंने गलत कह डाला। बारम्बार हम पछताते हैं और बारम्बार हम गलत करते हैं। इसलिए कदम-कदम पर सावधानी से चलने की जरूरत है और हम चाहें तो निश्चित है ऐसा जीवन बना सकते हैं।

एक बार एक जगह मैंने प्रवचन किया। प्रवचन के बाद काफी पढ़े-लिखे एक सज्जन मेरे पास आये। वे पूछे—“महाराज, आज के जीवन में क्या वैसा किया जा सकता है जैसा आपने अभी कहा है।”

मैंने कहा कि आज के जीवन में भी किया जा सकता है और अपने जीवन में ही किया जा सकता है। उन्होंने फिर पूछा—“आज के समय में क्या वैसा किया जा सकता है?” मैंने कहा—“बिलकुल किया जा सकता है। आज के समय में और केवल अपने जीवन में ही किया जा सकता है। दूसरे के लिए तो केवल कहा जा सकता है।

देखिये, दूसरे के लिए कहने की मेरी ड्यूटी थी इसलिए कह दिया, सभा में बोल दिया किंतु यह सारा

का सारा काम मैं ही कर सकता हूँ। मेरे जीवन में यह सब घट सकता है और इसी समय में घट सकता है। यह समय बुरा नहीं है। कोई भी जो चाहे वह अपने जीवन में यह काम कर सकता है, सुख और शांति पा सकता है, मन की निर्मलताजनित आनन्द, परमानन्द प्राप्त कर सकता है।'

कुछ लोगों की कहने की ऐसी आदत होती है कि पहले सब अच्छा था, आज बड़ा खराब है, आगे और भी खराब आयेगा। किंतु यह मिथ्या भ्रम है। पहले भी गलत-सही था, आज भी है और आगे भी रहेगा।

वैदिक युग में चारों युगों के वर्णन की कहीं कोई बात ही नहीं है। चारों युगों का व्यवस्थित वर्णन, काल के अनुसार जो बताया जाता है वह तो पुराणों की देन है। और यह ईसा के तीन-चार सौ वर्ष पूर्व से ही प्रचलित हुआ है। ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण है जिसमें चारों युगों का वर्णन पहली बार आया है किंतु वह लाक्षणिक है। वहां कहा गया है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्

ऋषि कहते हैं कि हम सोये हैं तो मानो कलिकाल है। जग गये हैं तो द्वापर हो गया है। उठकर खड़े हो गये तो त्रेता में हो गये हैं। और अगर कर्तव्य करने चल दिये हैं, गतिशील हो गये हैं तो सत्युग हो गया।

इसके आगे का मंत्र है—

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति

जो श्रमशील है वह मधु पाता है। जो चलता है वह मधु पाता है। जो साधना करता है उसको सफलता मिलती है। उदुम्बर का मीठा फल वही पाता है जो गतिशील होता है। सूर्य के श्रेय को देखो, सूर्य की महानता को देखो। वह कभी भी तन्द्रायित नहीं होता। उसकी आंख कभी नहीं झपकती। इसीलिए वह प्रकाशित है और दुनिया को प्रकाश देता है। इसलिए तुम भी चलते रहो, चलते रहो, गतिशील रहो। काम करो, भजन करो, साधना करो और समझ लो आज ही काम बनेगा।

आज का जमाना खराब नहीं है किंतु आज का जमाना और बढ़िया है लेकिन चीजों का हम दुरुपयोग करते हैं। यही हमारी भूल है। इसलिए जिन-जिन कामों से मन चंचल हो उन-उन कामों को छोड़ो।

हमारी साधना यही है कि हम अपने आपको सब जगह से बचायें। हम अपने को इस संसार में से निकाल लें। दाग कहीं न लगे। दाग यदि लग गये हैं तो धोयें। धोकर साफ कर दें। दीवार कभी गलती नहीं करती, इंसान ही गलती करता है। इसलिए कोई इंसान यदि भूल कर दे तो उस पर कुदृष्टि मत करो। उसको उठाने की चेष्टा करो। कोई महादुष्ट है तो वह अपनी करनी भोगेगा। सज्जन से भूल होती है तो वे सुधरते हैं। हमसे भूल हो जाये तो हम घबरायें न। फिर उठें और सावधान रहें आगे वह भूल न दोहरायें। भूल हो गयी किंतु उसको सुधार लिया गया तो दोष नहीं है। साहेब ने कहा है—

मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोष।

कहहिं कबीर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस

जो बैठा रहता है वह दोषी है। जो चलता है वह चलते-चलते कभी गिर पड़ा तो फिर उठेगा लेकिन जो सुनियोजित ढंग से गिरा है, चाहकर या योजना बनाकर गिरा है वह दुष्ट है। उसका सुधार नहीं होता है। सज्जन ही सुधरता है, दुर्जन नहीं सुधरता है। इसलिए तुम अपने जीवन को सुधारो, भूल होने न पाये और कदाचित् भूल हो गयी तो सुधार कर पुनः वह भूल न करो।

जीवन बड़ा अनमोल है, बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस जीवन को हमें सफल बनाना है और इस जीवन की सफलता यही है कि हमें शांति मिले। जीवन की असफलता अशांति है। इसलिए जीवन का एक-एक काम देखना-सुनना, खाना-पीना, लेना-देना और बरतना बहुत सावधानी से करना चाहिए। यही भजन का रहस्य है। और फिर जब ऐसा हो जाता है तब मन का निगृहीत होना बड़ा सरल काम हो जाता है। फिर तो साधक को वह उपलब्धि हो जाती है जिसमें जीवन की सार्थकता है।